DCESY-104

सामाजिक स्तरीकरण

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

खण्ड–ipe& भारत में जाति अध्ययन के उपागम 3–66

इकाई 18 : जाति के गुण–धर्मात्मक उपागम-I

इकाई 19 : जाति के गुण–धर्मात्मक उपागम-II

इकाई 20 : जाति के अन्तः क्रियात्मक उपागम-I

इकाई 21 : जाति के अन्तः क्रियात्मक उपागम-II

इकाई 22 : जाति एवं गतिशीलता

इकाई 23 : पृथक्करण एवं अस्पृश्यता

खण्ड – N% : भारतीय वर्ग संरचना 67&116

इकाई 24 : कृषक वर्ग संरचना–भूस्वामी, पट्टेदार और श्रमिक

इकाई 25 : कृषक वर्ग संरचना और परिवर्तन

इकाई 26 : नगरीय वर्ग संरचना-I श्रमिक वर्ग

इकाई 27 : नगरीय वर्ग संरचना-I मध्यम वर्ग

इकाई 28 : नगरीय वर्ग संरचना-II श्रमिक वर्ग

इकाई 29 : अभिजन और शक्ति की असमानता

खण्ड – lkr : शिक्षा, सामाजिक गतिशीलता और सामाजिक परिवर्तन 117&168

इकाई 30 : सामाजिक स्तरीकरण और शिक्षा

इकाई 31 : वर्गीय स्तरीकरण और सामाजिक गतिशीलता

इकाई 32 : सामाजिक स्तरीकरण और सामाजिक परिवर्तन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

DCESY-104
सामाजिक स्तरीकरण

खण्ड –5

भारत में जाति अध्ययन के उपागम

इकाई – 18 **5&20**

जाति के गुण–धर्मात्मक उपागम-I

इकाई – 19 **21–26**

जाति के गुण–धर्मात्मक उपागम-II

इकाई – 20 **27–34**

जाति के अन्तः क्रियात्मक उपागम-I

इकाई – 21 **35–42**

जाति के अन्तः क्रियात्मक उपागम-II

इकाई – 22 **43–56**

जाति एवं गतिशीलता

इकाई – 23 **57–66**

पृथ्क्करण एवं अस्पृश्यता

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

परामर्श समिति

प्रो0 के0 एन0 सिंह (अध्यक्ष) — कुलपति, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

डॉ० ए० के० गुप्ता — कुलसचिव, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सम्पादक

प्रो0 संजय सिंह (अध्यक्ष) — समाजशास्त्रए डॉ० राम मनोहर लोहिया राष्ट्रीय विधि, विश्वविद्यालय, लखनऊ

पाठ्यक्रम निर्माण समिति (अध्ययन बोर्ड)

1. डॉ० एम० एन० सिंह – पूर्व निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
2. डॉ० इति तिवारी – पूर्व एसो० प्रोफेसर समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
3. श्री रमेश चन्द्र यादव – शैक्षणिक परामर्शदाता, समाजशास्त्र, समाज विज्ञान विद्यशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

DCESY-104 – समाजिक स्तरीकरण लेखक–

1. डॉ० इति तिवारी – पूर्व एसो० प्रोफेसर समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
2. श्री रमेश चन्द्र यादव – शैक्षणिक परामर्शदाता, समाजशास्त्र, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
3. डॉ० शैलजा सिंह एसो० – प्रोफेसर, डॉ० शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ
4. डॉ० विजय कुमार वर्मा – असि० प्रोफेसर, डॉ० शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ
5. डॉ० विलोक सिंह – असि० प्रोफेसर, स्वामी सहजानन्द पी०जी० कालेज, गाजीपुर (उ०प्र०)
6. श्री अजय कुमार त्रिपाठी – जे० एन० पी०जी० कालेज, लखनऊ
7. डॉ० जया द्विवेदी तिवारी – अवध गर्ल्स डिग्री कालेज, लखनऊ
8. डॉ० श्वेता तिवारी ए०पी० – सेन गर्ल्स मेमोरियल पी०जी० कालेज, लखनऊ
9. डॉ० मपीन्द्र कुमार तिवारी – डी०ए०वी० कालेज, लखनऊ

2020 (मुद्रित)

© उ0प्र0 प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज 2022

ISBN- 978-93-83328-41-3

सर्वाधिक सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है। उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठयसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।
नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आमड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज
प्रकाशक – कुलसचिव, प्रो0 पी0 पी0 दुबे, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज – 211021
मुद्रक – के0सी0प्रिटिंग एण्ड एलाइड वर्क्स, पंचवटी, मथुरा– 281003.

इकाई–18

जाति के गुण–धर्मात्मक उपागम–I

इकाई की रूपरेखा

18.1 उद्देश्य

18.2 प्रस्तावना

18.3 जाति व्यवस्था की उत्पत्ति

18.4 जाति व्यवस्था : स्वरूपात्मक विश्लेषण

18.5 गुणधर्मों के आधार पर जाति का विश्लेषण

18.6 सारांश

18.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

18.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

18.9 संदर्भ–ग्रन्थ

18.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद छात्र

1. जाति व्यवस्था के उद्भव एवं उसके गुणधर्मों से परिचित हो पाएंगे।
2. जाति के स्वरुप तथा विभिन्न भारतीय एवं विदेशी विद्वानों के विचारों को समझ पाएंगे।

18.2 प्रस्तावना

जाति की स्वरूपात्मक व्याख्या के माध्यम से इस इकाई में जाति के विविध पक्षों की विशद् चर्चा की जा रही है कि किस प्रकार जाति व्यवस्था, व्यक्तियों के समूह को समाज में एक क्रम–विन्यास या सोपान में रखती है। इससे हमारा तात्पर्य है कि जाति व्यक्तियों को ऊँची व नीची असमान स्थितियों में व्यवस्थित करके उनके मध्य सामाजिक असमानताएँ उत्पन्न करती है। जातियों के क्रम विन्यास के विषय में उसके गुण धर्मों के बारे में भी जानकारी दी जा रही है। जाति सम्बन्धी विविध विचारों की चर्चा विविध विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की जा रही है। जिसके अध्ययन से हम सभी जाति को समग्रता से समझ सकने में सक्षम हो सकेगें।

18.3 जाति व्यवस्था की उत्पत्ति

यद्यपि विद्वानों ने इसके लिए अनेक तरीके अपनाए हैं, परन्तु हम आपका ध्यान जाति के अध्ययन हेतु एक विशिष्ट पद्धति पर केन्द्रित करेंगे। जाति के विशिष्ट गुण–धर्मों अथवा विशेष लक्षणों के संदर्भ में जाति की व्याख्या पर यह पद्धति आधारित है। इसका अभिप्राय यह है कि हम जाति की अन्तर्निहित विशेषताओं के आधार पर जाति की व्यवस्था को समझने का प्रयास करें। ये गुण–धर्म जाति व्यवस्था में जातियों के व्यवहार तथा अंतःक्रिया में 'बाह्य रूप देखे जा सकते हैं।

आपको यह ध्यान रखना होगा कि,

1) ये गुण–धर्म जाति को परिभाषित करने के आधार हैं,

2) किसी भी स्थिति में 'बाह्य रूप से देखे जाने वाले व्यवहार में ये गुण–धर्म परिलक्षित होने चाहिए।

हम सर्वप्रथम जाति के उद्‌भव की व्याख्या सम्बन्धी विद्वानों के अनेक प्रयासों की ओर ध्यान देंगे। हम सभी को यह ध्यान रखना चाहिए कि जाति की व्यवस्था का लम्बे समय तक केवल इतिहासवेत्ताओं, समाजशास्त्रियों तथा दार्शनिकों द्वारा ही अध्ययन नहीं किया गया, बल्कि यात्रियो, ईसाई मिशनरियों एवं प्रशासकों द्वारा भी अध्ययन किया गया है। अतः इस सामाजिक संस्था की अद्वितीय प्रकृति की चर्चा ईसा पूर्व तीसरी शती में सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने भी अपनी कृतियों में की है तथा 11वीं शती में महमूद गजनी के इतिहासवेत्ता–साथी अलबेरूनी ने भी इसकी चर्चा की है। इससे हमें यह पता चलता है कि भारत में निरन्तर बिना किसी बाधा के यह हजारों वर्षों से चला आ रहा है। जाति की प्राचीन प्रकृति को सिद्ध करते हुए हमारे सामने महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि जाति कहाँ से आई अथवा जाति व्यवस्था का क्या उद्‌भव रहा है? इस संस्था के उद्‌भव में हमारी रुचि इसलिए है कि उद्‌भव के अनेक सिद्धान्तों में जाति के गुण–धर्मों के बारे में अस्पष्ट चर्चा देखने को मिलती है इन गुण–धर्मों में हमारी भी रुचि है। जाति के उद्‌भव के बारे में अनेक व्याख्याएँ व तर्क दिये गये हैं। हम इसके विषय में तीन बिन्दुओं पर विचार करेंगे।

दैवीय उद्‌भव, तीन गुण, प्रजातीय सम्पर्क

यह तर्क दिया गया है कि जाति व्यवस्था का आधार हिन्दू धर्म में है। यहाँ हमारा तात्पर्य, ऋग्वेद में उल्लिखित 'मूल बलि' से है। ऐसी मान्यता है कि इस बलि से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र नामक चार वर्णों, की उत्पत्ति हुई। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त ऋचा के अनुसार समाज की चार व्यवस्थाओं का दैवीय उद्‌भव होता है। यह दैवीय उद्‌भव क्या होता है? यह हमारे पारम्परिक ग्रन्थों में इस विचार से सम्बन्धित है कि सृजक पुरुष अथवा आदि पुरुष के स्व बलिदान से वर्ग व्यवस्था उत्पन्न हुई। इसके शरीर के प्रत्येक भाग से एक विशिष्ट वर्ण का जन्म हुआ। अतः इससे हमें यह पता चलता है कि पुरुष के मुख से ब्राह्मण, उसकी भुजाओं से क्षत्रिय, उसकी उदर से वैश्य तथा उसके पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए। यहाँ यह महत्वपूर्ण नहीं है कि शरीर के विशिष्ट अंगों से वर्ण उत्पन्न हुए अपितु उनमें प्रत्येक को एक सामाजिक स्थिति तथा क्रम प्रदान किया गया। यह क्रम इस बात पर आधारित था कि वर्ण शरीर के किन अंग से उत्पन्न हुआ है, अतः ब्राह्मणें को सर्वोच्च स्थान, क्षत्रियों को दूसरा स्थान, तथा वैश्यों को तीसरा स्थान मिला और

शूद्रों को सोपान क्रम अथवा सामाजिक क्रम–विन्यास में निम्नतम स्थान प्राप्त हुआ और इस प्रकार इसका सृजन हुआ। सोपानक्रम पर प्रत्येक समूह को एक निश्चित स्थान प्रदान करने के अतिरिक्त इस उद्भव के प्रत्येक वर्ण के साथ एक कर्तव्य भी जोड़ा। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि–

1) सर्वोच्च वर्ण अथवा ब्राह्मणों का कर्तव्य पवित्र ज्ञान उपार्जन एवं अध्ययन करना था। यह तर्क दिया जा सकता है कि चूँकि ब्राह्मण पुरुष के सर्वोच्च स्थान मुख जिसे विद्वता का स्थान माना जाता है उससे उत्पन्न हुए माने जाते हैं, अतः उन्हें इसी से सम्बन्धित ज्ञान उपार्जन व विद्या दान का कर्तव्य सौंपा गया।

2) क्षत्रियों की उत्पत्ति आदि पुरुष की भुजाओं से हुई मानी जाती है, इसलिए उन्हें सुरक्षा जैसे काम करने का दायित्व सौंपा गया। इसके अतिरिक्त इन्हें व्यापार एवं वाणिज्य में काम करने का भी अधिकार था।

3) इसी प्रकार वैश्य, जिसकी उत्पत्ति आदि पुरुष के उदर से मानी जाती है, खेतों में काम करने का दायित्व सौंपा गया। इन्हें व्यापार एवं वाणिज्य में व्यस्त होने का भी अधिकार था।

4) शूद्रों की उत्पत्ति आदि पुरुष के पैरों से मानी जाती है, इसलिए इनका कार्य अन्य सभी समूहों की सेवा करना था।

सामाजिक व्यवस्था में दैविक उद्भव तथा असमान क्रम–विन्यास में विश्वास प्रत्येक समूह के कर्तव्यों को भी निर्धारित करना था। धीरे–धीरे ये कर्तव्य इन व्यवस्थाओं अथवा वर्णों के व्यवसाय में विकसित हुए, जिस पर इनका एकाधिकार था। उद्भव की इस व्यवस्था ने क्रम–विन्यास निर्धारण के अतिरिक्त समूहों के मध्य अंतःक्रिया पर कुछ निश्चित निषेध भी लगाए। अतः प्रथम तीन समूहों का मिल–जुलकर एक संवर्ग (कैटेगरी) बना जिसे 'द्विज' जातियाँ कहा गया, क्योंकि इन्हें यज्ञोपवीत संस्कार का अधिकार प्राप्त था जबकि शूद्रों को यह अधिकार प्राप्त नहीं था अतः उन्हें 'एकज' अथवा 'एकजाति' कहा गया। प्रत्येक उन जातियों को पारम्परिक कर्तव्य से परिभाषित किया गया जिनके कर्तव्य आनुवंशिक थे।

दैवीय उद्भव सिद्धान्त आदि पुरुष के अस्तित्व पर आधारित है, जिसमें यह माना गया है कि उस आदि पुरुष ने समाज में क्रम–विन्यासित समूहों की असमान व्यवस्था को जन्म दिया। कालान्तर में समाज के सोपनीकृत क्रम–विन्यास के उद्भव की व्याख्या मिथकशास्त्र से हटकर दार्शनिक विचारों पर निर्भर हो गयी जो इन विभिन्न समूहों के अस्तित्व व उनसे सम्बन्धित गुण–धर्मों की व्याख्या करते हैं। इसी को हम गुण सिद्धान्त कहते हैं। यह एक दार्शनिक सिद्धान्त है, जो तीन अंतर्निहित गुणों को महत्व देता है तथा जो विभिन्न व्यक्तियों में पाए जा सकते हैं। ये गुण निम्नलिखित हैं।

1) 'सत्व'–यह अच्छाई, सत्य, विद्वता, सौंदर्य तथा उत्तमता का गुण है।

2) 'रजस'–यह उन्माद का गुण है, जो किसी भी भयावह, उग्र, सशक्त एवं सक्रिय रूप में पाया जाता है।

3) 'तमस'–यह मंदबुद्धि, उदासी व मूर्खता का गुण है।

इन तीन गुणों की विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए समाज की सोपानीकृत व्यवस्था की व्याख्या की गई है–

1) ब्राह्मण, जो कि उत्तम और बुद्धिमान थे, उन्हें सात्विक कहा गया क्योंकि वे शाकाहार जैसी सात्विक प्रथाओं का पालन करते थे,

2) क्षत्रियों व वैश्यों में 'राजसी' गुण माने गए, तथा

3) शूद्रों में तामसिक गुण माने गए।

अब हम उद्भव के अंतिम सिद्धान्त की चर्चा करेंगे, जो दो संस्कृतियों के मध्य वास्तविक सांस्कृति सम्पर्क से विकसित समाज की सोपानीकृत व्यवस्था के विचार पर आधारित है। इनमें से एक विदेशी संस्कृति व अन्य स्थानीय संस्कृति थी। इस व्याख्या के प्रमाण अटकलवादी इतिहास पर आधारित हैं। इसका अर्थ यह है कि उपलब्ध ऐतिहासिक तथ्यों के कुछ स्वरूपों का विद्वानों द्वारा पारम्परिक समाज को समझने के लिये आधार के रूप में प्रयोग किया गया है। इतिहासवेत्ताओं का यह तर्क है कि जब इंडो–आर्यन प्रजाति ने सैकड़ों वर्ष पूर्व भारत जीता था तो वह अपने साथ पारम्परिक सामाजिक संस्थाएँ एवं मूल्य भी लाई थी, जिसे उसने स्थानीय जनता पर थोपा था। ये विजेता आर्य प्रजाति के थे तथा लम्बे, गोरे और तीखे नाक–नक्श वाले थे। इनका रंग अथवा वर्ण उस प्रजाति से भिन्न था, जिस पर उन्होंने विजय पाई थी। हारी हुई प्रजाति के लोग ठिगने, काले एवं गठे हुए शरीर वाले थे।

इन भौतिक विशेषताओं तथा रंग या वर्ण जैसे अन्य प्रजातीय गुणों के अंतर के आधार पर आर्यों ने एक द्विशाखी वर्गीकरण किया, जिसमें आर्य वर्ग तथा दास वर्ण, अथवा अनार्य वर्ग (यहाँ दास शब्द हारे हुए लोगों के लिये प्रयुक्त किया गया) थे। इतिहासवेत्ताओं की यह भी मान्यता है कि आर्य अपने साथ–साथ उपविभाजन भी लाए। हम यह देखते हैं कि आर्य दो संवर्गों में विभक्त थे– द्विज व अद्विज। अनार्य स्थानीय जन या दास तथा विदेशी या म्लेच्छ में विभक्त थे। इसमें से प्रत्येक समूह अपने कुछ निश्चित गुण–धर्मों के आधार पर उच्च अथवा निम्न के सोपानीकृत क्रम–विन्यास में व्यवस्थित था।

इन अनेक गुण–धर्मों में से चार को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना गया है। वे थे–

अ) किसी का मनुष्य एवं पशुओं पर आधिपत्य है या नहीं,

ब) कोई द्विज है या नहीं।

स) किसी के पुरोहित वाले अथवा पवित्र कर्तव्य है या नहीं, तथा

द) कोई आर्य है या अनार्य।

यदि हम इन गुण–धर्मों को ध्यान में रखते हुए समाज व्यवस्था की प्रकृति की व्याख्या करना चाहें तो रूपरेखा के स्तर पर यह इस प्रकार होगी–

1) हमारे उपरोक्त कथन के अनुसार समाज में पाँच समूह हैं–

- ब्राह्मण
- क्षत्रिय
- वैश्य
- शूद्र

- अनार्य, जिन्हें दास व म्लेच्छ में उपविभाजित किया गया।

ऐसे चार गुण–धर्म हैं, जिनके होने अथवा न होने के आधार पर इन समूहों को सोपानक्रम में विन्यासित करने में मदद मिलती है। ये गुण–धर्म निम्न हैं–

- पवित्रता सम्बन्धी प्रकार्य
- आधिपत्य
- द्विज
- आर्य

इस प्रकार हम गुण–धर्म के आधार पर कह सकते हैं कि–

1) ब्राह्मणों के पवित्र प्रकार्य होते हैं, तथा उनका आधिपत्य भी है। वे द्विज व आर्य भी हैं।
2) क्षत्रियों के पास पवित्र प्रकार्यों के अतिरिक्त वह सब कुछ हैं जो ब्राह्मणों के पास हैं,
3) वैश्यों के पास पवित्र प्रकार्यों व आधिपत्य के अतिरिक्त वह सब कुछ हैं, जो ब्राह्मणों के पास है।
4) शूद्र, सिर्फ आर्य हैं, तथा
5) अनार्य के पास इनमें से कोई भी गुण–धर्म नहीं है। अतः वह निम्नतम् है।

18.4 जाति व्यवस्था : स्वरूपात्मक विश्लेषण

हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि जाति, विजय जैसी कुछ प्रक्रियाओं का परिणाम मात्र नहीं है, बल्कि जाति को उसके गुण–धर्मों अथवा बाह्य रूप से अवलोकन योग्य पहलुओं के संदर्भ में भी समझना आवश्यक है। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जाति को सामाजिक अंतःक्रिया के स्वरूपों में देखने पर ये गुण–धर्म को समझने में सहायक होते हैं। ये निम्न हैं।

1. जातियों के सोपानीकरण में सहायता देते हैं,
2. जातियों के मध्य अंतःक्रिया निर्धारित करने में सहायक होते हैं, तथा
3. किसी जाति के सदस्यों के व्यवहार को निर्धारित करते हैं।

अर्थात् ये जाति के गुणधर्म हैं, जो यह निर्धारित करते हैं कि कोई व्यक्ति किसके साथ बैठ सकता है, किसके साथ खा सकता है तथा किसके साथ विवाह कर सकता है, आदि। अब हम उन कुछ विद्वानों के लेखों पर प्रकाश डालेंगे, जिन्होंने जाति व्यवस्था के अध्ययन के समय इन गुण–धर्मों को ध्यान में रखा है।

कार्ल मार्क्स के विचार :–

जर्मन विद्वान कार्ल मार्क्स ने समाज की प्रकृति और समाज व्यवस्था की प्रकृति किस प्रकार महत्वपूर्ण तरीके से अर्थव्यवस्था से प्रभावित होती है, इस पर प्रकाश डाला। एशियाटिक उत्पादन के तरीके के बारे में लिखते हुए उन्होंने अपने

अध्ययन में ग्रामीण सामाजिक संगठन की प्रकृति पर संक्षेप में लिखा है। मार्क्स के अनुसार किसी भी समाज में किसी भी समूह की स्थिति का निर्धारण उस समूह की जमीन के साथ सम्बन्धों पर आधारित होता है। यह इस बात से भी निर्धारित होता है कि ये सामाजिक समूह भूमि स्वामित्व रखते हैं या नहीं। अतः ग्रामीण भारतीय समाज में परस्पर आंतरिक रूप से निर्भर दो प्रकार की जातियों के अस्तित्व को परिभाषित किया गया जो निम्न हैं–

अ) भूमि पर काम करने वाली जातियाँ, तथा

ब) दस्तकार एवं सेवक जातियाँ।

भूमि पर काम करने वाली जातियाँ, अतिरिक्त उत्पादन करती है और इसे वे दस्तकार जातियों को देती हैं। ये दस्तकार जातियाँ, इसके बदले में उन्हें पारम्परिक दस्तकारी की निर्मित वस्तुएँ देती हैं। इस प्रकार की व्यवस्था में जहाँ दोनों जातियाँ अपनी स्वयं की आवश्यकताओं के लिये तथा परस्पर विनिमय के लिये उत्पादन करती थी, इस तरह एक प्रकार की व्यवस्था विद्यमान थी। सामाजिक संगठन की प्रवृत्ति लगभग परिवर्तनहीन थी तथा इसकी विशेषता यह थी कि इसमें संघर्ष और परिवर्तन का अभाव था अर्थात् इस प्रकार की व्यवस्था में जातियाँ अर्थव्यवस्था से उत्पन्न हो रही थीं अथवा मार्क्स के शब्दों में उत्पादन के तरीकों से उत्पन्न हो रही थीं। इस जाति का विशिष्ट गुण–धर्म यह था कि यह अर्थव्यवस्था से जुड़ी हुई थी। अतः जहाँ हम यह पाते हैं कि मार्क्स सामाजिक संरचनाओं को आर्थिक आधारों पर समझने का प्रयास करता है, वहीं मार्क्स का समकालीन जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर समाज में इसके सोपान के आधार पर व्याख्याएँ ढूँढ़ता हैं।

मैक्स वेबर के विचार :–

मैक्स वेबर ने जाति प्रणाली को इसकी विशेषताओं के आधार पर परिभाषित करने का प्रयत्न किया। उसने जाति को प्रस्थिति समूह के रूप में देखा अर्थात् ऐसा समूह जिसमें सदस्यों को उनकी सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति तथा जीवन–स्तर के आधार पर जाना जाता है। इस प्रकार के समूहों पर उनकी सामाजिक अंतःक्रिया को सुनिश्चित करने के लिए प्रतिबन्ध लगाए जाते थे। उदाहरण के लिए कौन किससे शादी कर सकता है और एक व्यक्ति क्या काम कर सकता है? समय के अंतराल के बाद इसने जाति की विशेषताओं का रूप ले लिया क्योंकि इन विशेषताओं ने जातियों को परिभाषित करना आसान बना दिया। जातियों के बीच सम्बन्धों को भी सुनिश्चित किया गया और वास्तव में इसकी सुनिश्चितता को दूसरे महत्वपूर्ण वैचारिक सिद्धान्त द्वारा कायम रखा गया है। यह शुचिता और प्रदूषण की स्थिति के बीच धार्मिक संस्कारों के स्तर पर विरोध था, जो स्वयं को वस्तुओं एवं चीजों से संयुक्त कर सका। ऐसा माना जाता था कि जातियों को सोपानात्मक क्रम में रखने का एक महत्वपूर्ण कारण, जातियों में विद्यमान धार्मिक कर्म की शुचिता की मात्रा है। पूजा जैसे 'स्वच्छ व्यवसाय' को करने वाली उच्च श्रेणी की जातियों को कर्मकाण्ड की दृष्टि से अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक शुद्ध माना जाता था।

वेबर के अनुसार, सामाजिक संगठन ब्राह्मण विचारधारा पर आधारित था जो हिन्दुओं के कर्म, धर्म एवं संस्कार के दार्शनिक विचारों की मान्यता की ओर संकेत करता है। हिन्दू मान्यता के अनुसार, प्रत्येक पवित्र हिन्दू अपने पूर्व जन्म के कर्म एवं धर्म के कारण विशेष जाति के कुल में जन्म लेता है। अतः प्रत्येक जाति के लिए अपनी पहचान को कायम रखना अति आवश्यक हो जाता है और उसे यह

भी चेष्टा करनी पड़ती है कि समाज में उसकी स्थिति न गिरे। इस प्रकार अपनी स्थिति को बनाए रखना, किसी प्रदूषित तत्व या व्यक्ति से किसी भी प्रकार के सम्बन्ध (चाहे वह प्रत्यक्ष अर्थात् शारीरिक हो या अप्रत्यक्ष अर्थात् भोजन इत्यादि के द्वारा हो) से दूर रहना चाहिए क्योंकि उन्हें इस बात का भय था कि इस प्रकार के सम्बन्ध या मेल–मिलाप से काई व्यक्ति अपनी प्रस्थिति से गिर सकता है।

सी0 बुग्ले के विचार :–

मैक्स वेबर द्वारा जाति को कुछ विशिष्ट गुण–धर्मों के सामाजिक एवं कर्मकाण्डीय आधार पर समझने के प्रयासों को फ्रांसीसी विद्वान सेलेस्टिन बुग्ले के लेखन से और अधिक स्पष्ट किया है। उन्होंने जाति पर 20वीं शताब्दी के आरम्भ में लिखा था। जाति को परिभाषित करने के प्रयास में काफी हद तक मैक्स वेबर के विचारों को दोहराया गया है। अतः बुग्ले के अनुसार हम यह पाते हैं कि–

(1) जाति व्यवस्था ने सम्पूर्ण समाज को समूहों की वृहत् संख्या में विभक्त कर दिया।

(2) ये समूह आनुवंशिक प्रकृति के थे, जिसका अर्थ यह है कि इनके समूहों की सदस्यता जन्म से थी, अर्थात् कोई भी व्यक्ति जाति में जन्म लेता है।

(3) ये समूह पर एक दूसरे से भिन्न होते हैं तथा कुछ निश्चित निषेध इन समूहों के मध्य दूरी बनाकर रखते हैं।

(4) यह दूरी विवाह सम्बन्धी निषेधों में अभिव्यक्त होती है। ये अंतर्विवाह अर्थात् अपने ही समूह में विवाह पर महत्व देते हैं। दूसरा, ये खान–पान पर निषेध लगाते हैं अर्थात् कौन किसके साथ भोजन कर सकता है या कौन किससे भोजन ग्रहण कर सकता है।

(5) इस दूरी के बावजूद इन समूहों में एक प्रकार के सम्बन्ध पाए जाते हैं। ये सम्बन्ध पारम्परिक व्यवसायों की विशिष्टीकृत प्रकृति या श्रम विभाजन पर आधारित अन्तःनिर्भरता का स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं,

(6) ये कारक या गुण–धर्म मिलकर एकमात्र सिद्धान्त को व्यक्त करते हैं–शुचिता व प्रदूषण के मध्य कर्मकांडीय विपरीतता।

अतः बुग्ले के अनुसार, जाति के सोपानक्रम में उसका स्थान व उसके सदस्यों के व्यवसाय, उनकी सामाजिक अंतःक्रिया (वैवाहिक अथवा व्यावसायिक) तथा उन पर लगाए गए निषेधों से पहचाना जाता है। सोपानक्रम व समूहों के मध्य ऐसी गुण–धर्म दूरी थी जो किसी भी जाति की प्रस्थिति को सोपानक्रम में रखती थी तथा जातियों के मध्य अंतःक्रिया को निर्धारित करती थी।

18.5 गुणधर्मों के आधार पर जाति का विश्लेषण

उपरोक्त विवरण में हमने आपको यह बताने का प्रयास किया है कि किस प्रकार किन्हीं निश्चित गुण–धर्मों के आधार पर जाति व्यवस्था के अध्ययन की एक शुरुआत हुयी। इन गुण–धर्मों की प्रकृति व अर्थ का जैसा विवरण मार्क्स, वेबर एवं बुग्ले ने दिया है, उससे यह स्पष्ट हो गया है कि जाति की विशेष प्रकृति निर्धारण में ये गुण–धर्म क्या भूमिका निभाते हैं। इस भाग में, हम यह देखेंगे कि गुण–धर्मों के आधार पर जाति व्यवस्था की व्याख्या की यह पद्धति किस प्रकार बीसवीं

शताब्दी में एक प्रकार के उपागम के रूप में विकसित हुयी। अब हम इस संदर्भ में जी.एस. घुरिये के योगदान की चर्चा करेंगे।

जी.एस. घुरिए के विचार

जाति पर लिखते हुए, जी.एस. घुरिए ने कुछ निश्चित गुण–धर्मों को जाति के निश्चित निर्धारक तत्वों के रूप में माना है। घुरिए के अनुसार जाति के निम्न 6 गुण–धर्म अति महत्वपूर्ण हैं।

1) समाज का खण्डात्मक विभाजन

घुरिए जाति को उन सामाजिक समूहों के संदर्भ में देखते हैं जिनकी सदस्यता जन्म और प्रस्थिति से प्राप्त होती है। किसी भी जाति की सामाजिक स्थिति उसकी पारम्परिक महत्ता पर निर्भर होती है। समाज का खण्डात्मक विभाजन अनेक समूहों के उस विभाजन की ओर संकेत करता है, जिसमें प्रत्येक समूह का अपना एक सामाजिक जीवन था तथा अन्य जातियों से वे उच्च व निम्न स्तर के सम्बन्धों से जुड़े हुए थे।

2) सोपानक्रम

जाति का द्वितीय महत्वपूर्ण गुण–धर्म इसी से निकलता है। यह सोपानक्रम का गुण–धर्म समाज में अनेक खण्डों के एक सुनिश्चित योजना के अन्तर्गत व्यवस्थीकरण है। इस योजना ने समूहों को श्रेष्ठता एवं हीनता अथवा उच्च और निम्न स्थितियों में रखा। इन समूहों के क्रम–विन्यास में पूर्वगामिता का एक मान्य नियम था, जिससे सोपानक्रम में सबसे ऊपर ब्राह्मणों को तथा निम्नतम स्थान पर अछूतों को रखा गया।

3) भोजन, पोशाक, भाषा तथा प्रथा पर निषेध

घुरिए के अनुसार, उपरोक्त दो गुण–धर्म दूरी के विचार से प्रतिबिम्बित होते हैं। समूहों के मध्य दूरी तथा सोपानक्रम को विभिन्न समूहों के सदस्यों पर भोजन सम्बन्धी, विवाह सम्बन्धी, पोशाक, भाषा एवं प्रथा सम्बन्धी निषेधों को लगाकर बनाया जाता था। इसी के अन्तर्गत उच्च व निम्न जातियों को भौतिक रूप से भी एक दूसरे से दूर रखा जाता था। इसका तात्पर्य यह है कि निम्न जाति के लोग उच्च जातियों की भाषा, पोशाक, प्रथाओं का अनुकरण नहीं कर सकते थे, क्योंकि ऐसा करने से जातिबद्ध समाज के आधारभूत नियमों की अवहेलना होती थी और यही नियम प्रदूषण को नियंत्रित करता था।

4) प्रदूषण

शुचिता का विचार उस वस्तु के बारे में होता है, जो शूद्र नहीं है अथवा उस क्रिया के बारे में होता है, जो अपनी शुचिता को छोड़कर प्रदूषित बन गए। इस प्रकार शुचिता की क्षति प्रदूषित करने वाली वस्तुओं (जैसे–मल, मूल आदि) अथवा मनुष्य (अछूत) के सम्पर्क में आने से होती है। निम्नतम जातियों को सर्वाधिक प्रदूषित माना गया। वस्तुतः प्रदूषण की मात्रा किसी भी समूह की अयोग्यताओं में प्रतिबिम्बित होती है। सर्वाधिक प्रदूषित जातियाँ सबसे अधिक सुविधाहीन थीं। इन अयोग्यताओं ने अनेक स्वरूप धारण किए और ये अयोग्यताएँ निम्न जाति को गाँव के कुएँ तथा मंदिर से वंचित रखती थीं। इन निम्न जातियों को गाँव की प्रमुख सीमा से बाहर

रहने के लिए मजबूर किया जाता था। वस्तुतः अनेक गाँवों की सड़कों तथा गलियों में विभक्त किया गया था, जिनमें कुछ विशिष्ट जातियाँ ही प्रवेश कर सकती थीं तथा रह सकती थीं। उदाहरण के लिए, हम तंजौर में कबावेहई गाँव में हिन्दू जातियों के तीन प्रमुख विभाजन पाते हैं। ब्राह्मण, गैर–ब्राह्मण तथा आदि द्रविड़ (अछूत)। गाँव में ये भिन्न–भिन्न गलियों में रहते थे, जिससे ब्राह्मण उत्तर में और आदि द्रविड़ गाँव के दक्षिण में रहते थे। इन दोनों क्षेत्रों को धान के खेत व मुख्य सड़कें अलग करती थीं।

इसी प्रकार निम्न जाति के किसी व्यक्ति की उपस्थिति तथा परछाई भी अछूत मानी जाती थी। मराठा और पेशवा के शासन में महार जाति (निम्न जाति के खेतिहर मजदूर) को पूजा स्थल के दरवाजों पर सुबह नौ बचे के पूर्व व दोपहर तीन बजे के बाद प्रवेश नहीं करने दिया जाता था, क्योंकि इस समय परछाई बहुत लम्बी होती है और अनजाने में किसी उच्च जाति के व्यक्ति पर पड़कर उसे प्रदूषित कर सकती थी। कुछ क्षेत्रों में विशेष रूप में मालाबार क्षेत्र में निम्न जातियाँ ऐसा कुछ भी प्रयोग नहीं कर सकती थीं अथवा पहन सकती थीं, जो उच्च जाति के वस्त्राभूषण शैली का अंग हो। इसके अन्तर्गत जूते पहनने, छतरी रखने अथवा स्वर्ण आभूषण पहनने पर निषेध था।

5) व्यावसायिक संघ

घुरिए के अनुसार प्रत्येक जाति एक पारम्परिक व्यवसाय से जुड़ी हुई थी। इसकी चर्चा हम जाति व्यवस्था के उद्भव से सम्बन्धित विवरण में कर चुके हैं। चूंकि व्यवसायों के मध्य भी शुचिता व प्रदूषण में भेद किया जाता था, अतः आनुवंशिक व्यवसाय किसी भी जाति की प्रस्थिति के द्योतक थे। उदाहरण के लिए, ब्राह्मण पुजारी का व्यवसाय करते थे, जबकि निम्न जातियों ने नाई, मोची, धोबी आदि व्यवसायों को अपना रखा था।

6) अंतर्विवाह

अंततः प्रत्येक जाति अपने सोपानक्रम व प्रस्थिति को बनाए रखने के लिए अंतःक्रिया व व्यवसाय पर ही निषेध नहीं लगाती थी बल्कि वैवाहिक सम्बन्धों पर भी निषेध लगाती थी। विभिन्न जातियों के मध्य अंतर्विवाह निषिद्ध होता था। अतः एक जाति के सदस्यों का विवाह उसी जाति के सदस्यों से होता था, अर्थात् अंतःविवाह प्रथा का प्रचलन था। प्रत्येक जाति को उपभागों या उपजातियों में बाँटा गया क्योंकि ये अंतःविवाह की इकाइयाँ थीं। उदाहरण के लिए, वैश्य सोपानक्रम। बनिया जाति को श्रीमाली, पोरवल, मोध जैसी अनेक उपजातियों में बाँटा गया। पोरवल उपजाति को दस्सा व बीसा में फिर विभक्त किया गया। दस्सा दो प्रकार के होते हैं, जो सूरत व बम्बई में रहते हैं। सूरत व बम्बई दस्सा के मध्य विवाह होता है।

जे.एच. हट्टन के विचार

घुरिए के कार्य के साथ–साथ जे.एच. हट्टन की विचारधारा का भी प्रमुख योगदान है। 1946 में प्रकाशित हुई, अपनी पुस्तक 'कास्ट इन इण्डिया' में हट्टन ने जाति व्यवस्था की संरचना का वर्णन किया है। उन्होंने जाति को बहुत जटिल संस्था माना है। जिसका मूल आधार अंतःविवाह की धारणा में है। उन्होंने आगे यह बताया है कि कौन व्यक्ति किसके साथ खान–पान करता है, किस पर निषेध है।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक जाति का एक निश्चित आनुवांशिक व्यवसाय रहा है। इसके साथ सभी जातियों में विखण्डन (ठीक जैसे अणु विभाजित होकर परमाणुओं की लघुतर इकाईयों में विखंडित होता है) की प्रक्रियाएँ भी चलती रहती है। उदाहरण के लिए, 1931 सें, पशु रखने वाली अहीर, ग्वाला, गोप जैसी अनेक जातियाँ एक नए नाम यादव के अंतर्गत मिल गई। हट्टन की यह भी मान्यता है कि जातियाँ परस्पर वैवाहिक निषेध द्वारा अलग–अलग बनी हुई हैं, फिर भी उनके लिए यह निषेध है कि किसी अन्य जाति द्वारा पकाया हुआ भोजन स्वीकार नहीं करना चाहिए। इस भोजन सम्बन्धी निषेध से अन्य महत्वपूर्ण कारकों पर भी प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ–

1) भोजन बनाने के लिए पानी कौन लाया व किसने भोजन पकाया?

2) किस बर्तन में पानी लाया गया अथवा किस बर्तन में भोजन पकाया गया, अर्थात् मिट्टी के बर्तन, पीतल या ताँबे के बर्तन में? इनमें से प्रत्येक एक दूसरे से कम या अधिक प्रदूषित हैं।

3) किस प्रकार का अर्थात् 'कच्चा' या 'पक्का' भोजन परोसा गया? जल में पकाया गया भोजन (ऐसे भोजन को समजाति या उच्च जाति के लोगों से ही स्वीकार किया जा सकता है) कच्चा भोजन होता है, तथा घी में पका भोजन पक्का भोजन होता है, जिसे अन्य जाति के लोगों द्वारा भी स्वीकार किया जा सकता है।

4) अंततः भोजन के विभिन्न प्रकारों में भी सोपान है। इसीलिए शाकाहारी भोजन, माँसाहारी भोजन में उच्चतर माना जाता है। ब्राह्मण सामान्यतया शाकाहारी होते हैं, परन्तु कुछ स्थानों पर जैसे बंगाल व कश्मीर में वे माँस व मछली खाते हैं।

विशेष ध्यान देने से यह पता चलता है कि खान–पान सम्बन्धी निषेध समूहों के मध्य दूरी व सोपान की प्रकृति के द्योतक हैं। भोजन की अस्वीकृति सोपान की श्रेष्ठता का परिचायक है। अंतःक्रिया के इस प्रकार के निषेधों से जुड़ी हुई मुख्य धारणा अशुद्धि की है।

भारत के कुछ भागों में विशेषतः दक्षिण भारत में, सम्पर्क द्वारा अशुद्धि के भय ने उच्च व निम्न जातियों के मध्य शारीरिक दूरी का स्थान ले लिया है। निम्न जातियों को न केवल गाँव के कुएँ व मंदिर से दूर रहना पड़ता है, बल्कि उच्च जातियों के लोगों से अंतःक्रिया के दौरान शारीरिक दूरी भी बना कर रखनी पड़ती है। उदाहरण के लिए, दक्षिण भारत में, 'तियान' नामक ताड़ी बनाने वाली निम्न जाति को नंबूदरी ब्राह्मणों की उच्च जाति से छत्तीस कदम की दूरी रखनी पड़ती थी अथवा, 'पुलायन' नामक खेतिहर जाति को छियानवे कदम की दूरी रखनी पड़ती थी।

इस प्रकार हट्टन ने जाति की व्याख्या का प्रयास किया है कि किस प्रकार लोग एक दूसरे के साथ सम्बन्धित होते हैं तथा अंतःक्रिया करते हैं या एक दूसरे से दूरी बनाकर रखते हैं। किस तरह वे किसी जाति के गुण–धर्म (प्राथमिक रूप से शुद्ध या अशुद्ध विवाह योग्य या विवाह अयोग्य) जातियों के मध्य सम्बन्धों को निर्धारित करते हैं।

इस प्रकार घुरिए तथा हट्टन के योगदानों में हमने देखा है कि जाति व्यवस्था की प्रकृति को किस प्रकार जाति की अंतर्विवाह प्रथा, खान–पान सम्बन्धी निषेध और उच्च व निम्न जातियों के मध्य सम्पर्क के आधार पर समझा जा सकता

है। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ये विद्वान इस बात पर अधिक ध्यान देते हैं कि किस प्रकार जातियों के मध्य सम्बन्ध उनके गुण–धर्मों द्वारा निर्धारित होते हैं। वहीं पर बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के विद्वान इस बात पर अधिक ध्यान देते हैं कि किस प्रकार ये गुण–धर्म कार्य करते हैं, जिससे जाति के चरित्र तथा जातियों के मध्य अंतःक्रिया को प्रत्यक्ष रूप से निर्धारित कर सके।

एम. एन. श्रीनिवास के विचार :–

एम.एन. श्रीनिवास तथा ड्यूमाँ भी जाति के इन गुण–धर्मों का अध्ययन करते हैं परन्तु उनके अध्ययन का केन्द्र बिन्दु भिन्न है। उनके लिए यह मात्र जातियों के लिए महत्वपूर्ण गुण–धर्म ही नहीं है बल्कि जातियों के मध्य इन गुण–धर्मों के आधार पर उभरने वाले सम्बन्धों की संरचना भी उतनी ही महत्वपूर्ण है। जैसे–जैसे आप आगामी विचारों का अध्ययन करेंगे, वैसे–वैसे इसका अर्थ आपको स्पष्ट हो जाएगा।

एम.एन. श्रीनिवास जाति को एक खण्डात्मक व्यवस्था के रूप में देखते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक जाति उपजातियों में बँटी है जो निम्न हैं–

1. अंतर्विवाह की इकाइयाँ,
2. जिसके सदस्य समान व्यवसाय करते हों,
3. सामाजिक एवं कर्मकांडीय जीवन की इकाइयाँ,
4. जिसके सदस्यों की संस्कृति समान हो,
5. जिसके सदस्य पंचायत नामक समान सत्तात्मक संस्था द्वारा नियंत्रित होते हों।

उपजाति के इन कारकों के अतिरिक्त, श्रीनिवास के अनुसार, कुछ निश्चित गुण–धर्म भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। ये निम्न हैं–

1) सोपानक्रम

श्रीनिवास के अनुसार, सोपानक्रम जाति व्यवस्था का सार है। यह आनुवंशिक समूहों के क्रम–विन्यास से सम्बन्धित है। उन्होंने यह भी बताया है कि सोपानक्रम के संदर्भ में सिर्फ सर्वोच्च स्थान वाला ब्राह्मण अथवा निम्नतम स्थान वाले अछूतों की प्रस्थिति ही सर्वाधिक स्पष्ट है। सोपानक्रम में मध्य क्षेत्र के बारे में काफी लचीलापन है, यहाँ प्रश्न इस बात का है कि मध्यम क्षेत्र के अंदर कौन से सदस्य आएँगे। वस्तुतः श्रीनिवास के अनुसार सोपानक्रम में पारस्परिक स्थितियों के बारे में विवाद है। इसका अर्थ यह है कि सोपानक्रम में अ, ब, स, तथा द चार जातियाँ हो सकती हैं और ऐसा भी हो सकता है कि इनमें से एक जाति को जो स्थान प्राप्त हुआ है उसे वे स्वीकार न करें। उनके स्थान पर वह एक वैकल्पिक स्थान प्राप्त करने की कोशिश करें। यहाँ इस बात की कोई निश्चितता नहीं है कि किसी जाति द्वारा चाही गई नई स्थिति उसे मिल जाएगी। उदाहरण के लिए दक्षिण भारत में लोहारों के एक समूह ने द्विज प्रस्थिति का दावा किया। वे अपने आपको विश्वकर्मा ब्राह्मण कहते हैं, परन्तु अन्य जातियाँ इसका प्रतिरोध करती हैं और यहाँ तक कि हरिजन भी उनके हाथ का पानी नहीं पीते। चूँकि किसी भी जाति का सोपानक्रम या प्रस्थिति उसके गुण–धर्मों से बहुत गहराई तक जुड़ा होता है, इसलिए सोपान में प्रस्थिति बदलने की

इच्छा का अर्थ है उस जाति के गुण–धर्मों की प्रकृति में भी परिवर्तन लाया जाए। यह प्रयास, 'संस्कृतिकरण' नामक एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया का आधार बन जाता है, जिसके बारे में हम आगे चर्चा कर रहे है।

2) व्यावसायिक संघ

श्रीनिवास ने किसी भी जाति व उसके व्यवसाय के मध्य एक घनिष्ठ सम्बन्ध पाया है। उनके अनुसार जाति "व्यावसायिक विभेदीकरण के व्यवस्थीकरण से अधिक कुछ भी नहीं है। जातियाँ उनके व्यवसाय द्वारा पहचानी जानी है तथा अनेक नाम उनके व्यवसाय से जुड़े होते हैं। (उदाहरणार्थ लोहार, सोनार, कुम्हार, चमार, तेली आदि)। उन्होंने इस बाद पर भी बल दिया है कि व्यवसाय उच्च व निम्न के सोपानक्रम में व्यवस्थित होते हैं।

3) खान–पान, पोशाक, भाषा एवं प्रथा सम्बन्धी निषेध

ये सभी जातियों में पाये जाते हैं। भोजन की स्वीकृति पर भी भोजन सम्बन्धी सोपानक्रम व निषेध होते हैं।

4) प्रदूषण

जातियों के मध्य दूरी प्रदूषण के सिद्धान्त पर टिकी होती है। श्रीनिवास का यह भी मत है कि उच्च जातियों को किसी भी ऐसी वस्तु या व्यक्ति के सम्पर्क में नहीं आना चाहिए जो प्रदूषित हो। प्रदूषित के सम्पर्क में आने से जाति अशुद्ध हो जाती है तथा उसे शुद्धिकारक धार्मिक रीतियाँ पूरी करनी पड़ती हैं। यदि अशुद्धि गम्भीर हो जैसे यदि किसी उच्च जाति के व्यक्ति का अछूत के साथ यौन सम्बन्ध स्थापित हो जाए तो उच्च जाति के व्यक्ति को जाति से निकाला भी जा सकता है।

5) जाति पंचायत व सभाएँ

उपरोक्त जाति के गुण–धर्मों के अतिरिक्त प्रत्येक जाति पर एक व्यवस्था बनाए रखने वाली सभा या पंचायत का नियंत्रण होता है। किसी भी गाँव में प्रत्येक जाति के बुजुर्ग सामूहिक रूप से अपनी सत्ता का प्रयोग करके सामाजिक व्यवस्था बनाए रखते है, और प्रत्येक जाति के सदस्य को अपनी जाति सभा की सत्ता माननी पड़ती है। किसी भी जाति सभा की सत्ता गाँव की सीमा के बाहर अन्य गाँवों की जातियों पर भी लागू हो सकती है।

उपरोक्त चर्चा से यह स्पष्ट है कि किसी भी जाति के गुण–धर्म निश्चय ही अंतःजातीय सम्बन्धों की प्रकृति को निर्धारित करते हैं। ये जातीय गुण–धर्म अथवा प्रथाएँ ही जाति की सोपान स्थिति को निश्चित करती हैं।

संस्कृतिकरण

हम यह पहले ही अध्ययन कर चुके हैं कि किस प्रकार प्रत्येक जाति को जातिगत सोपानक्रम में इसके गुण–धर्मों के शुचिता व प्रदूषण के आधार पर प्रस्थिति मिलती है। मैसूर गाँव के अध्ययन में, श्रीनिवास ने यह पाया कि किसी न किसी समय, प्रत्येक जाति, अपने गुण–धर्मों को त्याग कर व अपने से ऊँची जातियों के गुण–धर्मों को अपनाने का प्रयास करके, सोपानक्रम में अपनी प्रस्थिति को ऊँचा उठाने का प्रयास करती है। किसी भी जाति द्वारा निम्न स्तर पर

परिभाषित करने वाले गुण–धर्मों को त्यागकर तथा अपने से उच्च प्रस्थिति वाले गुण–धर्मों को अपनाकर अपनी प्रस्थिति उच्च बनाने वाले प्रयासों की प्रक्रिया, संस्कृतिकरण कहलाती है। इस प्रक्रिया में मूलतः खान–पान में परिवर्तन–माँसाहार से शाकाहार, व्यवसाय में अस्वच्छ व्यवसाय से स्वच्छ व्यवसाय में परिवर्तन आते हैं।

हमने इस बात से आरम्भ किया था कि किस प्रकार श्रीनिवास के लिए जाति के गुण–धर्मों से अधिक महत्वपूर्ण, जातियों के आस–पास उभरने वाले सम्बन्धों की संरचना है। इसका तात्पर्य यह है कि किसी जाति के गुण–धर्म, उनके मध्य अंतःक्रिया के आधार बनते हैं। अंतःक्रिया व अंतःसम्बन्धों के प्रतिमान के गठन की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति श्रीनिवास द्वारा प्रयुक्त अवधारणा 'डोमिनेंट कास्ट' या 'प्रभुत्वशील जाति' में होती है। प्रभुत्वशील जाति में गुण–धर्मों में तीन अन्य गुण–धर्मों का योग होता है। जो निम्न हैं–

1. संख्यात्मक शक्ति
2. भू–स्वामित्व के माध्यम से आर्थिक शक्ति, तथा
3. राजनीतिक शक्ति।

कोई भी प्रभुत्वशील जाति वह है, जो ग्रामीण समुदाय में उपरोक्त तीनों गुण–धर्म रखती है। इस धारणा का रोचक पक्ष यह है कि किसी भी जाति की कर्मकांडीय प्रस्थिति अब सामाजिक सोपान में उसकी प्रस्थिति के लिए महत्वपूर्ण आधार नहीं रहती। यदि कोई जाति सामाजिक सोपान में निम्न स्थान में होने के कारण निम्न प्रस्थिति की होती है, तो भी वह उस गाँव में प्रभुत्वशील जाति या समूह बन सकती है। यदि उसके पास संख्यात्मक शक्ति, भू–स्वामित्व तथा ग्रामीण मामलों में राजनीतिक प्रभाव हो। निस्संदेह, अपेक्षाकृत रूप से उच्चतर कर्मकांडीय प्रस्थिति वाली जाति को प्रभुत्वशील बनने में शायद अधिक आसानी होगी। परन्तु ऐसा सदैव नहीं होता।

लुई ड्यूमाँ के विचार :–

जाति गुण–धर्मों पर स्पष्ट कथन व अंतःक्रियाओं के प्रतिमानों या संरचनाओं को गठित करने में ये कैसे कार्यशील होते हैं, इसका स्पष्ट संकेत फ्रांसीसी विद्वान लुई ड्यूमाँ की लेखनी में मिलता है। अपनी पुस्तक 'होमो हैरारकिकस' (1970) में, ड्यूमाँ ने जाति व्यवस्था की व्याख्या का प्रयास किया है।

ड्यूमाँ के अनुसार जाति व्यवस्था का आधारभूत सिद्धान्त शुचिता व प्रदूषण के मध्य विपरीतता का सिद्धान्त है।

ड्यूमाँ भी जाति को विभक्त रूप में देखता है, उसके अनुसार, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जाति सिर्फ उपभागों में बँटी है और प्रत्येक उपभाग एक दूसरे से स्वतंत्र हैं। बल्कि प्रत्येक खंड अपने ऊपर वाले खंड का भाग है। यह कुछ–कुछ प्याज के छिलके की भाँति है। एक छिलका उतारने पर एक नयी परत सामने आती है, जिसके नीचे वैसी ही कोई और परतें होती हैं। ये सभी परतें मिलकर प्याज बनाती हैं।

ड्यूमाँ के अनुसार जाति व्यवस्था खंडों का योग है। प्रत्येक खंड दूसरे खंड के साथ सोपानबद्ध सम्बन्ध में व्यवस्थित होता है तथा इसमें दूसरा खंड शामिल होता है। जातियों की इस असमानता एवं सम्बन्ध को ड्यूमाँ ने 'दी एकम्पासिंग' (जो अन्य को अपने में समेट लेता हो) व 'दी एन्कम्पास्ड' (जो किसी

में सिमटा हुआ है, निहित हो) कहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक जाति अपने स्वरूप में नीचे वाली जाति को सोपान में निहित करती है, अर्थात् ब्राह्मण की स्थिति का अपने आप में कोई अर्थ नहीं है। यद्यपि यह क्षत्रिय से श्रेयस्कर है, परन्तु क्षत्रिय के विपरीत व क्षत्रिय के साथ तुलना में ब्राह्मण की कर्मकांडीय श्रेष्ठता होती है।

इसके साथ ही ड्यूमाँ द्वारा दिया गया जाति का द्वितीय सर्वाधिक महतवपूर्ण गुण–धर्म, दूरी है। यह जाति के शुचिता अथवा प्रदूषण सोपानक्रम का द्योतक है तथा इसके साथ ही यह जाति की कर्मकांडीय प्रस्थिति को बनाए रखने में भी सहायता करता है। वस्तुतः जातियों के मध्य यह दूरी तथा इस दूरी को इसी तरह बनाए रखने की आवश्यकता, श्रम विभाजन तथा प्रत्येक जाति द्वारा किसी व्यवसाय में पारम्परिक सम्बन्धों के कारण (जिनमें इस जाति की विशिष्टता तथा एकाधिकार होता है) सम्भव हुआ है। शुचिता व प्रदूषण का सिद्धान्त खान–पान व विवाह सम्बन्धी क्षेत्रों में जातियों के मध्य सम्बन्धों का आधार है।

कौन किसके साथ भोजन करेगा या विवाह करेगा, इसके बारे में निषेध तथा इस सम्बन्ध में शामिल जातियों के शुचिता व प्रदूषण सोपानक्रम पर आधारित होता है। भोजन व विवाह सम्बन्धों के लिये केवल शुचिता या उच्च या समान जातियाँ ही विचार योग्य मानी जाती हैं।

इस प्रकार ये सम्बन्ध जाति की शुचिता या प्रदूषण वाले गुण–धर्म द्वारा निर्धारित होते हैं। ये जातियों के मध्य दूरी व सोपानक्रम के भी द्योतक हैं।

18.6 सारांश

इस इकाई में जाति व्यवस्था के गुण धर्मों की विशद् चर्चा की गयी है। जिसमें जाति उद्भव के आधार व अलग–अलग समाजशास्त्रियों यथा जी.एस. घुरिए, लुई ड्यूमाँ, एम.एन. श्रीनिवास, सी. बुग्ले द्वारा जाति सम्बन्धी विचारों की व्याख्या की गयी है। जाति के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त निम्न गुण धर्मों पर प्रकाश डालते है यथा मार्क्स का मानना है कि सामाजिक व्यवस्था विशेषतः उत्पादन के तरीके की परिणति है, वही वेबर ने विशेषतः धर्म, कर्म के आधार पर सांस्कृतिक विचारधारा से जाति की व्याख्या की है। ड्यूमाँ ने जाति के गुण धर्मों की सूची बनाने की अपेक्षा इसके उन संरचनात्मक नियमों को पहचाना जो उसके अनुसार जाति व्यवस्था की व्याख्या के लिये मूल कार्य करते है। शुचिता एवं प्रदूषण उनका मूल सिद्धान्त है जिसके आधार पर जाति की व्याख्या करते हैं।

18.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. जाति व्यवस्था को स्थायी बनाये रखने वाला प्रमुख आधार कौन–सा है?

   क. अन्तर्विवाह ख. वर्ग व्यवस्था

   ग. बहिर्विवाह घ. नगरीकरण

2. जाति निर्धारण का आधार कौन–सा है?

   क. जन्म ख. प्रजाति

   ग. क्षेत्र घ. राष्ट्र

3. ‘होमो–हाइरारकिक्स’ कृति के लेखक हैं–

क. घुरिये　　　　　ख. लुई ड्यूमाँ

ग. हट्टन　　　　　घ. के.एम. पाणिक्कर

4. ‘कास्ट इन इण्डिया’ पुस्तक के लेखक का नाम है–

क. हट्टन　　　　　ख. कूले

ग. घुरिए　　　　　घ. मजूमदार व मदान

18.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1. क
2. क
3. ख
4. क

18.9 संदर्भ–ग्रन्थ

- घुरिये, जी.एस. 1950, कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया, बम्बई, पापुलर प्रकाशन।
- श्रीनिवास, एम.एन. 1966, सोशल चेन्ज इन माडर्न इण्डिया, बर्कले, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलीफोर्निया प्रेस।
- ड्यूमाँ, लुई. 1970, होमो हैरारकिक्स : शिकागो, द यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस।

इकाई–19

जाति के गुण–धर्मात्मक उपागम–II

इकाई की रूपरेखा

19.1 उद्देश्य

19.2 प्रस्तावना

19.3 जाति : गुण–धर्मात्मक उपागम

19.4 जाति के गुण–धर्मात्मक उपागम की आलोचना

19.5 सारांश

19.6 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

19.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

19.8 संदर्भ–ग्रन्थ

19.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद छात्र

1. जाति के अध्ययन पर गुण–धर्मात्मक उपागम द्वारा दिए गए प्रमुख बिन्दुओं के समझ सकेंगे।
2. विविध विद्वानों द्वारा प्रस्तुत गुण–धर्मात्मक उपागम की आलोचना को समझ सकेंगे।

19.2 प्रस्तावना

पिछली इकाई में हमनें जाति व्यवस्था की प्रकृति का अध्ययन किया था और 'गुण–धर्म' वाले उपागम पर ध्यान केंद्रित करके इसकी व्याख्या करने का प्रयास किया था। यह उपागम कुछ अंतर्निहित गुणों के विशिष्ट समूह अथवा गुण–धर्मों के प्रयोग पर आधारित है। ये गुण–धर्म जाति की विशेषता माने जाते हैं और यहाँ तक कि एक सोपानक्रम में जातियों की प्रस्थिति निर्धारित करते हैं। इसके प्रमुख प्रतिपादक आरम्भिक शास्त्रीय लेखकों से लेकर बीसवीं शताब्दी के विद्वान रहे हैं। गुण–धर्म वाले उपागम की आलोचनात्मक समीक्षा का उद्देश्य इसको अस्वीकार करना नहीं है, बल्कि यह देखने का प्रयास है कि गुण–धर्मों के संदर्भ के बिना भी क्या जाति–व्यवस्था की व्याख्या का कोई वैकल्पिक तरीका हो सकता है।

19.3 जाति : गुण–धर्मात्मक उपागम

सबसे पहले हम गुण–धर्मात्मक उपागम के प्रमुख बिन्दुओं का अध्ययन करेंगें। हमें यह ध्यान रखना होगा कि,

1) हमने जाति–व्यवस्था के उद्‌भव को कुछ आरम्भिक सिद्धान्तों की चर्चा से प्रारम्भ किया था।

2) इनमें से प्रत्येक सिद्धान्त, जाति–गुण, प्रजातीय विशेषताओं आदि की चर्चा अवश्य करते हैं।

3) तत्पश्चात् हमने जाति के कुछ हाल के अध्ययनों की चर्चा की है, जिसमें दूरी, सोपान तथा कर्मकांडीय शुचिता एवं प्रदूषण की धारणा (जैसे गुण–धर्मों की भूमिका) पर बल दिया गया है।

4) सोपानक्रम में जातियों के पद क्रम को बनाने व बनाए रखने वाले, उपरोक्त गुण–धर्मों से सम्बन्धित, भोजन व व्यावसायिक निषेध जैसे कुछ अन्य गुण–धर्मों की भूमिका पर चर्चा की है।

5) ये गुण–धर्म जिस बात के लिए महत्वपूर्ण हैं, उन गुण–धर्मों के आधार पर हमने यह पाया है कि किसी भी जाति की 'उच्चता' या 'निम्नता' मात्र गुण–धर्मों की शुचिता या प्रदूषण ही नहीं है, बल्कि इन गुण–धर्मों की उपस्थिति, अनुपस्थिति या मात्रा भी है। यहाँ यह बात भी किसी जाति के शुचिता या प्रदूषित व्यवसाय की धारणा से जुड़ी हुई है।

6) शुचिता व प्रदूषण की धारणा के संदर्भ में हमने देखा है कि किस प्रकार 'पुरोहित' जैसे 'स्वच्छ' व्यवसाय वाली, शाकाहार जैसे खान–पान के निषेध की अनुगामिनी, तथा अंतर्जातीय विवाह प्रथा मानने वाली जाति को इन 'शुद्ध' गुण–धर्मों के आधार पर उच्च जाति का स्थान प्राप्त होगा।

7) इसके विपरीत 'निम्न' जातियाँ हैं जो सफाई या धुलाई व्यवसाय में लगी हुई हैं, तथा जो खान–पान सम्बन्धी नियमों का कठोरता से पालन नहीं कर पातीं। वे माँसाहारी हैं और मद्यपान भी कर लेती हैं तथा अंतर्जातीय विवाह प्रथा को गम्भीरता से नहीं लेतीं।

8) उपरोक्त बिन्दुओं से हमने यह पाया है कि किस प्रकार किसी भी जाति को परिभाषित करने व कर्मकांडीय मूल्यों के पैमाने पर आधारित सोपानक्रम में इस जाति की स्थिति निर्धारित करने व बनाए रखने में खान–पान व्यवसाय व विवाह प्रथा सम्बन्धी शुचिता के आधारभूत गुण–धर्म थे।

गुण–धर्मात्मक उपागम के प्रमुख तर्कों के अध्ययन के पश्चात् अब हम इस उपागम की आलोचना व एक वैकल्पिक सिद्धान्त के प्रस्ताव पर चर्चा करेंगे।

19.4 जाति के गुण–धर्मात्मक उपागम की आलोचना

जब भी किसी नए सिद्धान्त का उपागम का सूत्रीकरण होता है, तब उसकी सत्यता, उपयोगिता अथवा व्यावहारिकता का सत्यापन तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि उसका परीक्षण न हो। इसी प्रकार गुण–धर्मात्मक उपागम का परीक्षण उन कुछ विद्वानों द्वारा किया गया, जो जाति के अध्ययन में, इस उपागम के विश्लेषणात्मक मूल्य के बारे में बहुत आश्वस्त नहीं थे।

गुण–धर्मात्मक उपागम के आलोचकों ने इसके आधारभूत तर्कों अर्थात् गुण–धर्मों की भूमिका का विशिष्ट परिस्थितियों में जातिगत सम्बन्धों को समझने में परीक्षण किया है। इस क्षेत्र में मैकिम मैरियट का कार्य महत्वपूर्ण है।

मैकिम मैरियट के विचार

मैरियट ने उत्तर प्रदेश के अलीगढ़ जिले में किशनगढ़ी नामक गाँव में क्षेत्रीय अनुसंधान किया। उसने ग्रामीण सामाजिक सोपान की प्रकृति को समझने के लिए जाति के गुण–धर्मों की धारणा को प्रयुक्त करने का निश्चय किया। गाँव का चरित्र बहु–जातीय व बहु–व्यवसायी था, जिसमें कुल चौबीस समूह थे, ब्राह्मण, काश्तकार, माली, नाई, कुम्हार, भंगी आदि थे। विशिष्ट जातियों के सोपानक्रम के बारे में ग्रामवासियों से प्रश्न पूछने पर उसने पाया कि उसे सदैव उचित उत्तर नहीं मिले। इसके अतिरिक्त, उसने देखा कि उसके अध्ययन में जातियों के सोपानक्रम उनके गुण–धर्मों के अनुरूप नहीं हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सामाजिक सोपानक्रम में जातियों का स्थान उनके गुण–धर्मों की उच्चता या निम्नता का परिणाम नहीं है। वस्तुतः खान–पान व व्यवसाय सम्बन्धी निषेधों जैसे–गुण धर्मों से जातियों में कोई विभेदीकरण नहीं होता।

उदाहरण–1

मैरियट ने यह पाया कि भोजन के 'पक्का' या 'कच्चा' होने के कारण उसकी उच्चता या निम्नता (गुण–धर्म के बारे में जैसा कि पहले बताया गया है) तथा समजाति से भोजन ग्रहण करने की स्वीकृति व निम्न जाति से अस्वीकृति को जातियों के मध्य विभेदीकरण के लिये प्रयुक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि सभी जातियाँ दोनों ही प्रकार के भोजन पकाती व खाती हैं। वस्तुतः इस गाँव में, धोबी जैसी शाकाहारी तथा चमार जैसी माँसाहारी, जातियों को समान सोपानक्रम प्राप्त था। यह बात गुण–धर्म की इस धारणा के विपरीत है कि शाकाहारी जाति को माँसाहारी जाति से उच्चतर सोपानक्रम प्राप्त होता है।

उदाहरण–2

इसी प्रकार, व्यवसायों की शुचिता के आधार पर जातियों के सोपानक्रम या व्यवसायिक सोपानक्रम के बारे में मैरियट ने देखा कि जातियों की सोपानक्रम में स्थिति उनके व्यवसायों की उच्चता या निम्नता पर निर्भर नहीं है। अतः जो जातियाँ स्वच्छ व्यवसाय करती थीं, उनको भी अलग–अलग सोपानक्रम मिले हुए थे। बढ़ई की सामाजिक स्थिति माली से ऊँची थी व माली की स्थिति काश्तकार से ऊँची थी। जबकि दूसरी ओर, विभिन्न व्यवसायिक शुद्धता वाली जातियों का सोपानक्रम भिन्न नहीं था। अतः नाई, गडरिया व कहार (पानी भरने वाला) को स्थानीय सोपानक्रम में समान स्थिति प्राप्त थी। जातियों के गुण–धर्म व उनके सोपानक्रम में ऐसी अनियमितता पाने पर मैरियट इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि जाति सोपानक्रम के आधार के रूप में व जातीय सम्बन्धों को समझने में गुण–धर्मों के प्रयोग से समस्याएँ उठती हैं। मैरियट की कठिनाइयों के अतिरिक्त, कुछ अन्य विद्वानों ने भी आनुभविक अवलोकन के आधार पर कुछ आलोचनाएँ दी हैं। यहाँ कुछ आलोचनाओं की संक्षिप्त चर्चा की जाएगी।

अन्य विद्वानों के विचार

1. आलोचनात्मक विचार

प्रायः यह देखा गया है कि जब कोई किसी जाति की प्रस्थिति की प्रकृति एवं ग्रामीण स्तर पर अंतःक्रिया का अध्ययन करता है, तब कभी–कभी तथ्य सिद्धान्त के अनुरूप नहीं मिलते। ऐसा हमने मैरियट के अध्ययन में पाया है। इसी प्रकार कुछ अन्य विद्वानों ने भी अध्ययन करके बताया है कि प्रायः स्वच्छ व शुद्ध व्यवसाय व खान–पान वाली जातियों का सोपानक्रम उन जातियों से निम्न होता है, जो कम शुद्ध अथवा अधिक प्रदूषित व्यवसाय करती हैं।

उदाहरण के लिए श्रीनिवास द्वारा अध्ययन किए गए मैसूर के एक गाँव में शाकाहारी व माँसाहारी, स्वच्छ व अस्वच्छ व्यवसाय वाली दोनों जातियाँ रहती हैं, व्यापारी जाति शाकाहारी भी होती है तथा किसान जैसी अन्य जातियों की तुलना में स्वच्छ व्यवसाय करती है परन्तु किसान जैसी जातियों का सोपानक्रम, व्यापारी जाति से उच्चतर है। यह बात जाति के गुण–धर्म व जाति के सोपानक्रम में अनियमितता दर्शाती है।

2. आलोचनात्मक विचार

यदि हम यह मान लें कि किसी जाति के गुण–धर्म (अर्थात् उसकी भोजन व व्यवसाय सम्बन्धी आदतें) उस जाति के सोपानक्रम को निर्धारित करते हैं वस्त्र धोने जैसे कुछ ऐसे कार्य हैं, जो सभी जातियाँ अपने लिये करती हैं, अथवा दक्षिण भारत में, कुछ जातियाँ अपने निजी भोजन के लिये बकरे मारती हैं। वस्त्र धोना व पशु मारना दोनों ही प्रदूषित कार्य हैं। परन्तु जब सामाजिक स्थितियों का अवलोकन किया जाता है तो यह देखा जाता है कि इन कार्यों से होने वाला प्रदूषण सिर्फ उन जातियों को प्रभावित नहीं करता जो पारम्परिक रूप से वस्त्र धोने व पशु मारने के व्यवसाय में लगी हुई हैं।

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि, क्या गुण–धर्म सिर्फ पारम्परिक रूप से चयनित व्यवसायों के लिये ही हैं? यदि यह बात सही है, और मान लीजिए कि एक ही जाति दो विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न–भिन्न व्यवसाय करती है, तो इन जातियों का सोपानक्रम कैसे निर्धारित किया जाएगा।

3. आलोचनात्मक विचार

तीसरी समस्या गुण–धर्मों के महत्व की है। कर्मकांडीय मूल्यों के मापदण्ड पर कौन सा गुण–धर्म सोपानक्रम के लिए महत्वपूर्ण है? प्रायः यह देखा जाता है कि किसी जाति के गुण–धर्मों का एक मिश्रण होता है, अर्थात् शुद्ध व्यवसाय वाली जाति माँसाहारी हो सकती है अथवा एक जाति प्रदूषित व्यवसाय के होते हुए भी शाकाहारी व अंतर्जातीय विवाह प्रथा वाली हो सकती है। इस प्रकार दोनों प्रकार की जातियों में शुचिता व प्रदूषण गुण–धर्मों का मिश्रण होता है। इस प्रकार के मामले में, इन दोनों जातियों में से किस जाति को तथा किस गुण–धर्म के आधार पर उच्चतर सोपानक्रम में रखा जाए।

इस संदर्भ में उत्तरी, पूर्वी व दक्षिण भारत में कुछ ब्राह्मण जातियों का एक रोचक उदाहरण है। गुण–धर्मात्मक उपागम के अनुसार, ब्राह्मण वे हैं, जिनके व्यवसाय की शुचिता के गुण–धर्म, अर्थात् पौरोहित्य, भोजन की शुचिता अथवा विशुद्ध शाकाहारी तथा मद्यनिषेध होते हैं। इन 'शुचिता' गुण–धर्मों के कारण इनका स्थान सोपानक्रम में उच्चतम होता है।

परन्तु जब हम कश्मीर, बंगाल व दक्षिण भारत (कोंकण क्षेत्र) के ब्राह्मणों का उदाहरण लेते हैं, तो हम यह पाते हैं कि वे माँसाहारी होते हुए भी अपनी महत्वपूर्ण सामाजिक स्थिति को बनाए हुए हैं। अतः अब हम अपना वह प्रश्न उठा सकते हैं कि सोपानीकरण हेतु कौन सा गुण–धर्म महत्वपूर्ण होता है? क्या प्रदूषित व्यवसाय वाली शाकाहारी जाति निम्न है या शुचिता व्यवसाय वाली माँसाहारी जाति निम्न है? यह एक समस्या मूलक बात है।

4. आलोचनात्मक विचार

जैसा कि मैकियम ने अपने ग्रामीण अध्ययन में यह पाया है कि भोजन व व्यवसाय के समान गुण–धर्मों वाली जातियों का बहुधा सोपानक्रम भिन्न होता है। इसी प्रकार के प्रमाण अन्य स्थानों में भी पाए गए हैं। उड़ीसा के बिसीपारा ग्राम के अपने अध्ययन में एफ.जी. बेली ने बताया है कि किस प्रकार गाँव में सभी इक्कीस जातियाँ माँसाहारी हैं (यहाँ तक कि ब्राह्मण भी बकरियाँ मार कर खाते हैं) परन्तु फिर भी ग्रामवासी उनको भिन्न–भिन्न सोपानक्रम प्रदान करते हैं।

हमने आपको ऊपर कुछ उदाहरण दिए हैं कि किस प्रकार गुण–धर्मात्मक उपागम सभी स्थितियों में लागू नहीं होते अथवा विभिन्न प्रकार की स्थितियों की व्याख्या करने में असफल रहते हैं। आलोचकों के अनुसार, इससे इस बात का पता चलता है कि जिस प्रकार से जाति की व्याख्या हेतु गुण–धर्मों का प्रयोग किया जाता है, उसमें किसी प्रकार की त्रुटि है। यह जाति की व्याख्या हेतु एक वैकल्पिक तरीके की सम्भावना को भी बताता है। आलोचकों ने जाति व्यवस्था व उसकी प्रकृति के बारे में कुछ निश्चित निष्कर्ष निकालने के लिए, इन्हीं गुण–धर्मों का प्रयोग करते हुए एक वैकल्पिक उपागम प्रस्तावित किया है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कि यह एक अंतःक्रियात्मक उपागम है। जातियों के सामाजिक सोपानक्रम के आधार के रूप में यह जातियों के मध्य अंतःक्रिया के महत्व पर बल देता है।

19.5 सारांश

इस इकाई में हमने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि किस प्रकार जाति की व्याख्या के लिये गुण धर्मात्मक उपागम पर्याप्त नहीं है इस इकाई के अन्तर्गत जाति के गुण धर्मात्मक उपागम–II की चर्चा की गयी है एवं विविध आलोचकों के विचारों को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

19.6 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'किशन गढ़ी' गाँव का अध्ययन किया है–

   क. घुरिए   ख. कूले

   ग. पाणिक्कर   घ. मैकियम मैरियेट

2. 'विलेज इण्डिया' के लेखक हैं–

   क. मैरियेट   ख. घुरिए

   ग. मजूमदार व मदान   घ. हट्टन

3. 'कास्ट, क्लास एण्ड आकुपेशन' कृति किसकी है?

क.	घुरिए	ख.	कूले
ग.	ड्यूमाँ	घ.	हट्टन

4. अस्पृश्यता का सम्बन्ध किससे है–

क.	वर्ग व्यवस्था	ख.	जाति व्यवस्था
ग.	सम्पदा	घ.	दास प्रथा

19.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1. घ
2. क
3. क
4. ख

19.8 संदर्भ–ग्रन्थ

- मैरेट, मैकियम, 1959, इंटरएक्शनल एण्ड एट्रीव्यूशनल थ्योरीज ऑफ कास्ट रैकिंग।
- घुरिए, जी.एस. 1950, कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया, बम्बई, पापुलर, प्रकाशन।

इकाई–20

जाति के अन्तः क्रियात्मक उपागम–I

इकाई की रूपरेखा

20.1 उद्देश्य

20.2 प्रस्तावना

20.3 जाति के अन्तःक्रियात्मक उपागम

20.4 सारांश

20.5 मिलान प्रश्न

20.6 मिलान प्रश्नों के उत्तर

20.7 संदर्भ ग्रन्थ

20.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद छात्र

1. जाति के अध्ययन हेतु गुण–धर्मात्मक उपागमों व अंतःक्रियात्मक उपागमों में अंतर समझ सकेंगे।
2. जाति अध्ययन के अंतःक्रियात्मक उपागमों को समझ सकेंगे।
3. अंतःक्रियात्मक उपागम के अंतर्गत विविध विद्वानों के विचारों को समझ सकेंगे।

20.2 प्रस्तावना

भारतीय समाज को समझने के लिए, जाति व्यवस्था को समझना अनिवार्य है। जाति व्यवस्था भारतीय समाज की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता हैं। अनेक विद्वानों का मत है कि जाति व्यवस्था एक अद्वितीय भारतीय व्यवस्था है। समकालीन भारतीय जीवन के सभी क्षेत्रों में जाति का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

पूर्व की इकाईयों में हमने जाति की व्याख्या हेतु गुण–धर्मात्मक उपागमों की चर्चा की है। जाति के उद्भव से सम्बन्धित अनेक सिद्धान्तों के बारे में जानकारी दी। तत्पश्चात् आपको जाति पर अनेक पाश्चात्य विद्वानों के विचारों से अवगत कराया गया। अपने गुणों के माध्यम से जाति व्यवस्था के व्याख्या की पद्धति तथा इस प्रकार के एक गुण–धर्मात्मक उपागम की कमियों का अध्ययन किया।

उपरोक्त इकाई में हम जाति के अध्ययन हेतु कुछ अंतःक्रियात्मक उपागमों की विस्तृत चर्चा करेंगे। आरम्भ में हम गुण–धर्मात्मक एवं अंतःक्रियात्मक उपागमों

के विभिन्न मतों पर चर्चा करेंगे। आपको इस प्रक्रिया में अंतःक्रियात्मक उपागम की महत्वपूर्ण विशेषताओं की जानकारी उपलब्ध होगी। जाति की व्याख्या के लिए एफ. जी. बेली, एड्रियन मेयर एवं मैकिम मैरियट के योगदानों का वर्णन किया जाएगा। अंत मे इस उपागम की कुछ आलोचनाओं पर प्रकाश डाला जाएगा।

20.3 जाति के अन्तः क्रियात्मक उपागम

भारत में जाति व्यवस्था के अध्ययन हेतु दो अन्य दृष्टिकोण अथवा उपागम गुण–धर्मात्मक (Atributional) एवं अन्तः क्रियात्मक (Interactional) भी प्रचलित रहे हैं।

जाति व्यवस्था के अध्ययन का गुण–धर्मात्मक उपागम जाति–व्यवस्था के गुणों या लक्षणों को आधार बनाकर जाति व्यवस्था की प्रकृति एवं संरचना को समझाने का प्रयास करता है। ये गुण–धर्म जाति व्यवस्था में जातियों के व्यवहार तथा अंतःक्रिया में बाह्य रूप में अवलोकनीय होते हैं और नृजातियों के बीच के अन्तःक्रिया को निर्धारित करते हैं। सत्, रज एवं तम गुणों के आधार पर जातीय सोपानक्रम की व्याख्या या **जी. एस. घुर्ये** द्वारा 6 गुण धर्मों के आधार पर जाति–व्यवस्था के स्वरूपों की व्याख्या या फिर **ड्यूमॉ** द्वारा तीन गुण धर्मों–सोपानक्रम, दूरी तथा श्रम विभाजन के आधार पर जाति व्यवस्था की व्याख्या इस तरह के अध्ययन के प्रमुख उदाहरण हैं। इस दृष्टिकोण से जाति व्यवस्था का अध्ययन करने वाले प्रमुख विचारकों में **मैक्स वेबर, बुगले, घुर्ये, हट्टन, एम.एन. श्रीनिवास, लुई ड्यूमॉ** आदि प्रमुख हैं।

जाति व्यवस्था के अध्ययन के अंतःक्रियात्मक दृष्टिकोण की मान्यता है कि जाति का विश्लेषण केवल गुणों के आधार पर न करके इसके अंतःक्रियात्मक पक्षों को भी इसमें शामिल किया जाना चाहिए तभी भारतीय समाज के विभिन्न क्षेत्रों में विविधतायुक्त जाति व्यवस्था का अध्ययन सम्भव है। इस उपागम की मान्यता है कि विशिष्ट जातियों के मध्य होने वाली अन्तःक्रियाएँ उनके आपसी सम्बन्धों को निर्धारित करने में प्रमुख होती हैं और साथ ही कर्मकांडीय सोपानक्रम सदैव आर्थिक एवं राजनीतिक प्रस्थिति के साथ सुसंगत होती है। इस दृष्टिकोण से जाति व्यवस्था का अध्ययन करने वाले विचारकों में **एफ.जी. बेली, एड्रियन मेयर** और **मैकिम मैरियट** प्रमुख हैं जिन्होंने क्रमशः उड़ीसा के बिसीपारा गांव का, मध्य प्रदेश रामखेड़ी ग्राम का, एवं उत्तर प्रदेश के किशनगढ़ी एवं रामनगला का अध्ययन किया।

जाति व्यवस्था के अध्ययन में उपरोक्त दोनों उपागम पर्याप्त नहीं हैं, जैसे गुण–धर्मात्मक उपागम, जाति सोपानक्रम के निर्धारण को केवल गुण–धर्मों के आधार पर दर्शाता है और यह जाति–व्यवस्था के सोपानक्रम का विश्लेषण उनकी स्थितियों के संदर्भ में करने में असफल है। उदाहरण के लिये दक्षिण भारत के कोंकण क्षेत्र, कश्मीर के या बंगाल के ब्राह्मण मांसाहारी होते हुए भी शाकाहारी जातियों से सोपानक्रम में ऊपर क्यों हैं या फिर शुद्ध व्यवसाय करने वाली जातियाँ मांसाहारी एवं प्रदूषित व्यवसाय करने वाली जातियाँ शाकाहारी क्यों हैं। इस स्थिति की व्याख्या यह नहीं कर पाता है। जबकि दूसरी तरफ अंतःक्रियात्मक उपागम जाति–सोपान को विभिन्न जातियों के मध्य होने वाले अंतःक्रिया प्रतिमानों पर निर्भर मानता है जो कि तर्कसंगत नहीं हैं क्योंकि जातीय सोपान गुण–धर्म एवं अन्तःक्रिया दोनों पर आधारित होते हैं। इस उपागम की एक और कमी है कि यह जातीय सोपानक्रम को बहुत हद तक स्थानीकृत कर देता है क्योंकि अन्तःक्रिया को

आवश्यकता से अधिक महत्व देने कारण जाति व्यवस्था के विचारधारात्मक पक्षों की उपेक्षा हो जाती है।

बावजूद इसके दोनों ही उपागम जाति व्यवस्था के अध्ययन हेतु महत्वपूर्ण हैं चूंकि गुणधर्म अन्तःक्रिया दोनों एक–दूसरे को प्रभावित करते हैं। अतः दोनों का संयुक्त प्रयोग ही भारत में जाति व्यवस्था को समग्रता पाने में सक्षम हो सकता है।

यद्यपि जाति से सम्बन्धित **श्रीनिवास** के उपरोक्त दृष्टिकोण पर भारत विद्याशास्त्रीय स्रोतों की उपेक्षा करने का आरोप लगाया जाता है जो भारतीय समाज के निर्माण में आधारभूत रहे हैं बावजूद इसके भारतीय जाति व्यवस्था का, उसमें होने वाली गत्यात्मकता का और इस व्यवस्था में निहित अंतर्जातीय सम्बन्धों का आनुभविक अध्ययन प्रस्तुत करने में **श्रीनिवास** का यह प्रयास भारतीय समाजशास्त्र के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण योगदान है।

एफ.जी. बेली के विचार

एफ.जी. बेली के अनुसार, जाति समूह पृथकता एवं सोपानक्रम दो सिद्धान्तों द्वारा एक व्यवस्था में एकीकृत है। बेली के अनुसार जातियाँ 'अंतःक्रिया के नियमों में अभिव्यक्त कर्मकांडीय एवं लौकिक (राजनीतिक, आर्थिक) सोपानक्रम में व्यवस्थित होती है।' बेली, जाति व्यवस्था को गतिशील मानते हैं। इनके अनुसार कर्मकांडीय व्यवस्था सदैव राजनीतिक एवं आर्थिक प्रस्थिति के सम्पर्क में उस पर छाई रहती है। जातियों के मध्य सम्बन्ध स्थापित करना मात्र कर्मकांडीय व्यवहार की ही बात नहीं है। यह शक्ति का मामला है, क्योंकि जाति व्यवस्था में सदैव एक प्रभुत्वशील जाति उभरती है, जिसके अधीन अनेक अन्य जातियाँ होती हैं। वस्तुतः प्रभुत्वशील जाति के हाथों में शक्ति एवं बल के केंद्रीभूत होने के कारण जाति व्यवस्था एक सूत्र में बंधी रहती है। चूंकि कर्मकांडीय प्रस्थिति सदैव राजनीतिक एवं आर्थिक प्रस्थिति के साथ सुसंगत होती है, इसलिए जब भी कोई जाति धनाढ्य हो जाती है तो वह अन्य जातियों से अपना अंतःक्रिया विन्यास बदल लेती है, जिससे वह कर्मकांडीय प्रस्थिति में अधिक ऊँचे क्रम का दावा कर सके। दूसरे शब्दों में सोपानक्रम में जाति का क्रम, अन्य जातियों के साथ इसके अंतःक्रिया विन्यास द्वारा अभिव्यक्त होता है। इस स्थिति में अंतःक्रिया विन्यास सोपानक्रम में कर्मकांडीय प्रस्थिति का संकेतक बन जाता है। अंतःक्रिया विन्यास से हमारा अभिप्राय भोजन की स्वीकृति व उसके वितरण, सेवा की स्वीकृति व उनके विस्तार, जल की स्वीकृति एवं अस्वीकृति, साथ मिलकर धूम्रपान करने की इच्छा या अनिच्छा, साथ बैठने या अलग बैठने की प्रवृत्ति से है। उपहार का आदान–प्रदान भी इसी सूची में आता है।

एफ.जी. बेली ने एक क्षेत्र के विभिन्न गाँवों की समान जातियों के मध्य अंतःक्रिया की भी चर्चा की है। किसी विशिष्ट क्षेत्र में फैली कोई जाति परस्पर समीप आ सकती है तथा विवाह द्वारा अपने सम्बन्ध मजबूत कर सकती है। जब पूरे क्षेत्र में ये सम्बन्ध मजबूत होते हैं, तो जाति राजनीति क्षेत्र में शक्ति पाने के लिए प्रयास कर सकती है। अब हम उपरोक्त विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए बेली के अध्ययन क्षेत्र बिसीपारा गाँव में अंतर्जातीय अंतःक्रिया पर दृष्टिपात् करके व्याख्या करें।

बिसीपारा गाँव का अध्ययन

बेली ने उड़ीसा के बिसीपारा गाँव में अपना क्षेत्रीय कार्य किया। बिसीपारा में 22 जाति समूह थे, जिनकी जनसंख्या एक व्यक्ति से लेकर 150 तक थी।

बिसीपारा में ब्राह्मण, योद्धा (क्षत्रिय), बेली, गडरिए, नाई, कुम्हार तथा ताड़ी बनाने वाली जैसी अनेक जातियाँ थीं।

सामान्यतया, सोपानक्रम के सर्वोच्च व निम्नतम स्थानों पर हमें कर्मकांडीय, राजनीतिक एवं आर्थिक प्रस्थिति में पूरी–पूरी सुसंगतता देखने को मिलती हैं। बिसीपारा में जातिगत कर्मकांडीय सोपानक्रम में क्षत्रियों का स्थान एक मात्र ब्राह्मण परिवार के बाद सर्वोच्च ही था परन्तु राजनीतिक एवं आर्थिक प्रस्थितियों के लौकिक सोपानक्रम में क्षत्रिय प्रधान थे। इनके पास गाँव की अधिकांश भूमि थी व गांव पंचायत में इनका दबदबा था।

परन्तु अंतःक्रियात्मक उपागम के दृष्टिकोण से हमारे लिए यह अधिक महत्वपूर्ण है कि बिसीपारा में स्वातंत्र्योत्तर परिवर्तनों के बाद क्या हुआ। परिवर्तन की आँधी के बाद क्षत्रिय की कर्मकांडीय सोपानक्रम प्रस्थिति अस्पष्ट हो गई, क्योंकि उनकी अधिकांश भूमि छिन गई। अब क्षत्रियों के पास गाँव की 30 प्रतिशत से भी कम भूमि थी, जबकि पन जाति के लोगों ने 20 प्रतिशत से अधिक भूमि प्राप्त कर ली थी। इसके अतिरिक्त वैश्य जाति व ताड़ी निकालने वाली जाती ने कर्मकांडीय सोपानक्रम में ब्राह्मणों के बाद की प्रस्थिति का दावा पेश किया। इनमें से कोई भी जाति अब एक दूसरे के यहाँ भोजन या पानी ग्रहण नहीं करती थी। अतः कर्मकांडीय सोपानक्रम में अपनी प्रस्थिति हेतु क्षत्रियों व ताड़ी बनाने वालों के मध्य संघर्ष विकसित हो गया।

ब्राह्मणों की भाँति, क्षत्रिय गडरिए जाति से तो जल ग्रहण कर लेते थे परन्तु ताड़ी बनाने वालों से जल ग्रहण नहीं करते थे। इस प्रकार, परोक्ष रूप से क्षत्रिय ताड़ी बनाने वालों को कर्मकांडीय सोपानक्रम में गडरिए से निम्न मानते थे। दूसरी ओर, गडरिए क्षत्रियों से तो भोजन व जल ग्रहण कर लेते थे, परन्तु ताड़ी बनाने वालों से जल ग्रहण नहीं करते थे। इसके प्रतिक्रिया स्वरूप, ताड़ी बनाने वालों ने ब्राह्मणों के अतिरिक्त किसी से भी भोजन व जल ग्रहण करना बंद कर दिया। इस प्रकार बिसीपारा के ताड़ी बनाने वालों ने धनसमृद्धि अर्जित करने के बाद क्षत्रियों की आर्थिक प्रस्थिति के कमजोर होने पर स्वयं के लिए ब्राह्मणों के बाद की प्रस्थिति का दावा पेश किए।

ताड़ी बनाने वालों के उदाहरण से यह पता चलता है कि जब भी किसी जाति की राजनीतिक व आर्थिक प्रस्थिति में उत्थान होता है, तो जातियाँ अपने अंतःक्रिया विन्यास बदल देती हैं, जिससे कर्मकांडीय सोपान में अधिक ऊँचा स्थान प्राप्त कर सके। आइए अब हम एड्रियन मेयर के विचारों पर प्रकाश डालेंगे।

एड्रियन मेयर के विचार

एड्रियन मेयर, गाँव को एक ठोस यथार्थ मानता है, क्योंकि वह मानवीय सम्बन्धों को प्रभावित करता है। किसी गाँव की विभिन्न जातियों के मध्य अंतःक्रिया से जातियों का सोपानक्रम उभरता है। मेयर अंतर्जातीय सम्बन्धों तथा उनका गाँव की एकता के साथ सम्बन्धों का विश्लेषण करता है। मेयर के अनुसार जातिगत सोपानक्रम के निर्धारक कारक आर्थिक व राजनीतिक अंतःक्रिया होती है तथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारक खान–पान के सम्बन्ध होते है।

आर्थिक व राजनीतिक कारकों के साथ समस्या यह है कि यह हो सकता है कि सभी सदस्य एक साथ मिलकर आर्थिक व राजनैतिक क्षेत्रों में न आए। यह भी एक तथ्य है कि सभी जातियों में आर्थिक धन समृद्धि हो सकती है, अर्थात् यह समृद्धि जाति से बँधी हुई नहीं होती। दूसरे शब्दों में, 'उच्च' जाति के किसी व्यक्ति

की आर्थिक प्रस्थिति निर्धन हो सकती है। इन समस्याओं का निराकरण कर्मकांडीय प्रस्थिति में हो जाता है। सोपानगत् कर्मकांडीय प्रस्थिति किसी जाति में सभी सदस्यों की समान होती है। अंतःक्रिया प्रतिमान में भी 'खान–पान सम्बन्धी सोपानक्रम' ही जातियों के मध्य सम्बन्धों की एक जटिल–व्यवस्था प्रदान कर सकता है। मेयर के अनुसार "जातियों का क्रम–विन्यास कहीं पर भी इतना स्पष्ट दिखाई नहीं देता, जितना खान–पान व हुक्का–पानी के नियमों में दिखाई देता है।" संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मेयर के अनुसार, राजनीतिक व आर्थिक कारक महत्वपूर्ण होते हुए भी जातिगत सोपानक्रम को निर्धारित नहीं करते। उसके अनुसार एकमात्र महत्वपूर्ण कारक, खान–पान सम्बन्धी नियम हैं, जो गाँव के सोपानक्रम को स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं। इस तथ्य को हम रामखेड़ी गाँव के मेयर के क्षेत्रीय कार्य के अध्ययन द्वारा बेहतर तरीके से समझ सकेगें।

रामखेड़ी गाँव का अध्ययन

रामखेड़ी गाँव, मध्य प्रदेश के देवास नामक एक छोटे से कस्बे के पास है। रामखेड़ी में पच्चीस हिन्दू व दो मुस्लिम जातियाँ थीं। खान–पान सम्बन्धी नियमों का कठोरता से पालन होता था, यद्यपि यदाकदा इनमें ढील भी सम्भव थी। खान–पान के सम्बन्धों के सोपानक्रम को समझने के लिए, मेयर ने निम्न बातें देखीं :

(1) गतिविधि का प्रकार : भोजन, पेयजल ग्रहण, धूम्रपान।

(2) भोजन का प्रकार : 'पक्का' भोजन, 'कच्चा' भोजन।

(3) भोजन का स्थान व संदर्भ : विवाह या मृत्यु।

(4) भोजन करते समय कौन किसके समीप बैठता है?

(5) भोजन कौन देता है? किसने भोजन पकाया?

(6) किस बर्तन–पीतल या मिट्टी में पानी दिया गया?

खान–पान सम्बन्धी सोपान इस मान्यता पर आधारित हैं कि निम्न जाति से एक निश्चित प्रकार के खान–पान सम्बन्धी सम्पर्क से किसी जाति की कर्मकांडीय शुचिता कम हो सकती है या प्रदूषित हो सकती है। अतः उच्च जाति, निम्न जातियों के बर्तनों में पका भोजन नहीं खाती। किसी अन्य जाति द्वारा पकाए भोजन को खाने का अर्थ उस जाति से समानता का बोध है।

रामखेड़ी गाँव के ब्राह्मण अपनी ही जाति अथवा उनकी उपजाति के सदस्यों द्वारा पकाया 'कच्चा' भोजन खाते हैं। अन्य, सभी जातियाँ द्वारा पकाया भोजन करती हैं तथा उनके मिट्टी के घड़ों से पानी आसानी से पीती हैं। इसी क्रम में हम, मेयर द्वारा अवलोकित कुछ और खान–पान सम्बन्धी नियमों की चर्चा करें।

ब्राह्मणों के बाद सोपानक्रम में जातियों के दो समूह हैं, एक समूह शाकाहारी है व अन्य समूह मांसाहारी है। राजपूत मांसाहारी होते हैं परन्तु नाई व कुम्हार को निम्न समझा जाता है क्योंकि वे अपने से निम्न बढ़ई या किसान से भोजन ग्रहण कर लेते हैं और वह भी कच्चा भोजन ग्रहण कर लेते हैं। रामखेड़ी के दूधिए एवं धोबी जो दूध का व्यवसाय करते हैं सिर्फ ब्राह्मणों से कच्चा भोजन ग्रहण करते हैं। परन्तु उनसे कुछ अत्याधिक निम्न जातियों (जुलाहे, चमड़ा रंगने वाले, भंगी) को छोड़ कर कोई भोजन ग्रहण नहीं करता। ठीक उसी प्रकार, रामखेड़ी के

तेली, दूधियों से कुछ अधिक ऊँचे माने जाते हैं क्योंकि कुछ ऊँची जाति के लोग उनसे भोजन ग्रहण कर लेते हैं। बढ़ई, माली, किसान व दर्जी जातियाँ सिर्फ ब्राह्मणों से ही कच्चा भोजन ग्रहण करती हैं। बढ़ई को ऊँचा माना जाता है क्योंकि वह ब्राह्मणों से ही भोजन ग्रहण करता है, जबकि किसान को बढ़ई से निम्न स्थान प्राप्त है क्योंकि वह राजपूतों व कुम्हारों से भी भोजन ग्रहण कर लेता है। सोपान में इनसे भी निम्न स्थान पर मेयर ने भिलाना, मीणा, नाथ व ढोली जातियों को शामिल किया है। इनमें से कोई जाति एक दूसरे का 'कच्चा' भोजन स्वीकार नहीं करती।

सोपानक्रम के निम्नतम क्रम में जुलाहों, चमड़ा रंगने वालों व भंगी को वर्गीकृत किया गया है। रामखेड़ी गाँव में भंगी को सभी जातियों से निम्नतम माना जाता है क्योंकि वह ही एकमात्र है जो कि अन्य जातियों की थालियों से झूठन खाता है।

ऊपर हमने रामखेड़ी गाँव में खान–पान सम्बन्धी सोपानक्रम को अत्यधिक सारगर्भित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। अब आपको यह स्पष्ट हो गया होगा कि रामखेड़ी गाँव में, खान–पान के सम्बन्ध, सोपान में अनेक जाति समूहों की कर्मकांडीय प्रस्थिति को इंगित व अभिव्यक्त करते हैं। रामखेड़ी गाँव एक उदाहरण अथवा नमूना मात्र है इस प्रकार की अंतःक्रिया अनेक अन्य भारतीय गाँवों में पाई जा सकती है। अब हम मैरियट के विचारों पर चर्चा करेंगे।

मैकिम मैरियट के विचार

मैरियट जातिगत सोपानक्रम को स्थानीय संदर्भ में देखता है। इसका अर्थ यह है कि वह विशिष्ट संदर्भ में विशिष्ट व स्थानीय कारकों की भूमिका का अध्ययन करता है। यदि समूहों को सोपानक्रम में क्रमविन्यासित करना है तो ग्राम समुदाय में विभिन्न जातियों के मध्य अंतःक्रिया को स्तरीकृत करने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त यदि जातियों को स्पष्ट रूप से क्रमविन्यासित करना हो तो समुदाय के लोगों में स्पष्ट मतैक्य होना चाहिए यदि सभी लोग समुदाय द्वारा प्रतिपादित अंतक्रिया प्रतिमान का कठोरता से पालन करें तो समुदाय में सोपानक्रम के बारे में मतैक्य उभरेगा।

किशनगढ़ी व राम नगला गाँवों में जातियाँ किस प्रकार सोपानीकृत हैं इस बारे में मैरियट ने अध्ययन किया। इन गाँवों में मुख्यतया कर्मकांडीय अंतःक्रिया के सोपानक्रम पर जातियों का सोपानक्रम आधारित होता था। बेली की ही भाँति, मैरियट ने अनुभव किया कि कर्मकांडीय सोपानक्रम अंतक्रिया की आर्थिक, राजनैतिक तथा ऐसे ही अन्य गैर–कर्मकांडीय सोपानक्रमों से उभरता है व इन सोपानक्रमों को अभिव्यक्त करता है। जातियों के आर्थिक व राजनैतिक सोपानक्रम प्रायः कर्मकांडीय सोपानक्रम से सुसंगत होते है। अर्थात् किसी भी विशिष्ट गाँव में जाति का सोपानक्रम अंतःक्रिया के दोनों कर्मकांडीय व गैर–कर्मकांडीय सोपानक्रमों से प्रभावित होता है, यद्यपि कर्मकांडीय सोपानक्रम अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। जब विभिन्न जातियों के लोगों के मध्य सोपानक्रम के बारे में स्पष्ट मतैक्य उभरता है, तो विभिन्न जातियों के मध्य अंतःक्रिया के स्तरीकृत प्रमिमान को ग्राम समुदाय सामूहिक रूप से स्वीकृति दे देता है। अब हम मैरियट के क्षेत्रीय कार्य का अध्ययन करेगें।

एकल अध्ययन : किशनगढ़ी एवं राम नगला

किशनगढ़ी व राम नगला, उत्तर प्रदेश के अलीगढ़ जिले में दो गाँव हैं। जब मैरियट ने 1952 में आँकड़े एकत्रित किए थे, उस समय किशनगढ़ी में 24 जातियाँ व 857 व्यक्ति थे और राम नगला में 300 व्यक्ति 7 जातियों में विभक्त थे। मैरियट के आँकड़ों के अनुसार इन गाँवों में जातिगत् सोपानक्रम काफी स्पष्ट व मतैक्य पर आधारित था। इन दोनों गाँवों में कोई भी जाति अनूठे सोपानक्रम वाली नहीं थी। मैरियट के उत्तरदाताओं ने बताया कि वे लोग स्थानीय संदर्भ में उनकी कर्मकांडीय अंतःक्रिया के आधार पर जाति का स्पष्ट सोपानक्रम निर्धारित करने में सक्षम थे अर्थात्, सोपानक्रम तभी सम्भव है जब कोई जाति के बारे में भली–भाँति जानता हो। इस प्रकार जाति एक स्थानीय प्रघटना है।

पहले यह बताया जा चुका है कि सोपानीकरण स्थानीय संदर्भ में दिन–प्रतिदिन के कर्मकांडीय अंतःक्रिया पर आधारित होता है। किशनगढ़ी व राम नगला में सोपानीकरण हेतु दो अंतःक्रियाएँ महत्वपूर्ण हैं वे हैं :–

1. वे अन्तःक्रियायें, जो कुछ निश्चित प्रकार के भोजन के आदान–प्रदान को नियंत्रित करती हैं।

2. वे अंतःक्रियाएँ, जिसमें सम्मानजनक प्रथाओं, व व्यवहार, प्रतीकों का आदान–प्रदान निहित होता है।

राम नगला व किशनगढ़ी में उस जाति को उच्च स्थान प्राप्त होता है, जिसके सदस्य उच्च जाति से विशिष्ट प्रकार के भोजन (उच्च किस्म के भोजन) प्राप्त करते हैं। दूसरी ओर, यदि भोजन निम्न जाति से प्राप्त किया जाए अथवा निम्न प्रकार का भोजन, तो उस जाति का सोपानक्रम निम्न होगा। भोजन की ही भाँति, जिन जातियों को सम्मानजनक व्यवहार प्रतीक प्राप्त होते हैं अर्थात् जो उच्च कर्मकांडीय पूजापाठ में मुख्य भूमिका निभाते हैं, उन्हें उच्च सोपानक्रम प्राप्त होता है।

किशनगढ़ी में ब्राह्मणों को उच्च प्रस्थिति प्राप्त है, क्योंकि वे बहुत ही विशिष्ट कर्मकांड करते हैं तथा साथ ही साथ सभी सेवक जातियों से पूर्ण सेवाएँ प्राप्त करते हैं। ब्राह्मण केवल पक्का भोजन (उच्च किस्म का भोजन) ही स्वीकारते हैं वह भी उच्च जातियों के एक विशिष्ट समूह से। किसी भी जाति को उच्च माना जा सकता है यदि ब्राह्मण उनसे उच्च (पक्का) भोजन ग्रहण करें। इस प्रकार हमने यह अध्ययन किया कि किस प्रकार बहु–जातीय गाँव में अंतःक्रियात्मक उपागम में विभिन्न जातियों के मध्य सम्बन्धों पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। जो विद्वान अंतःक्रियात्मक उपागम का अनुसरण करता हैं वे प्रायः ये तर्क देते हैं कि सोपानक्रम में जातियों का क्रम–विन्यास, दिन–प्रतिदिन की अंतःक्रिया प्रतिमान पर निर्भर होता है।

इस प्रकार हमने जाति के अध्ययन हेतु एक वृहत अंतःक्रियात्मक उपागमों की विस्तार से चर्चा की। बिसीपारा, रामखेड़ी, किशनगढ़ी एवं राम नगला गाँवों के उदाहरणों के साथ–साथ बेली, मेयर व मैरियट के निष्कर्षों को प्रस्तुत किया गया। बेली ने जाति के राजनैतिक आयाम को महत्व दिया तथा यह दर्शाया कि किस प्रकार कर्मकांडीय सोपानक्रम में किसी भी प्रस्थिति किसी की आर्थिक व राजनैतिक प्रस्थिति से समर्पित होती है। मेयर ने रामखेड़ी गाँव के अपने अध्ययन में दर्शाया कि किस प्रकार सोपानक्रम में खान–पान सम्बन्धी विनिमय किसी भी कर्मकांडीय प्रस्थिति की व्याख्या करते हैं।

मैरियट ने भी किशनगढ़ी व राम नगला गाँवों के अपने अध्ययन में लगभग ऐसे ही निष्कर्ष निकाले। मैरियट ने भी बनाया कि कर्मकांडीय सोपानक्रम गैर–कर्मकांडीय सोपानक्रम के साथ सुसंगत हो जाता है और अंततः दोनों एक हो जाते हैं।

अंतःक्रियात्मक उपागम भी समस्याविहीन नहीं है। हमने बताया कि हर हाल में अंतःक्रियात्मक सिद्धान्त भी गुण धर्मों को प्रयोग में लेते हैं। यह भी बताया गया कि किस प्रकार स्थानीय विशेषताओं व संदर्भों के प्रयोग से अंतक्रियात्मक सिद्धान्त, जाति व्यवस्था में अंतर्निहित मूल्य व्यवस्था अथवा विचारधारा के प्रभावों की उपेक्षा कर जाते हैं।

20.4 सारांश

इस इकाई के अन्तर्गत हमने जाति के अन्तःक्रियात्मक उपागम की विशद् चर्चा की है। जिसमें कई समाजशास्त्रियों के विविध विचारों पर प्रकाश डाला गया है। इस अन्तःक्रियात्मक उपागम की आलोचना भी कई बिन्दुओं को लेकर की गयी है।

20.5 मिलान प्रश्न

1.	लुई ड्यूमॉ	(क)	किशनगढ़ी व रामनगला
2.	मैरियट	(ख)	शुचिता व प्रदूषण
3.	एफ.जी. बेली	(ग)	सहभोज आदान–प्रदान सम्बन्धी क्रमविन्यास
4.	ए. मायर	(घ)	जाति व्यवस्था के शक्ति सम्बन्धी पक्ष

20.6 मिलान प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (क)
3. (घ)
4. (ग)

20.7 संदर्भ ग्रन्थ

- मेयर, ए.सी; 1986, कास्ट एण्ड किनशिप इन सेन्ट्रल इण्डिया, यू.बी.एस., नई दिल्ली।
- श्रीनिवास, एम.एन. 1986, इण्डिया सोशल स्ट्रक्चर, हिन्दुस्तान पब्लिशिंग कार्पोरेशन, नई दिल्ली।

इकाई–21

जाति के अन्तः क्रियात्मक उपागम–II

इकाई की रूपरेखा

21.1 उद्देश्य
21.2 प्रस्तावना
21.3 जाति के अन्तःक्रियात्मक उपागम सम्बन्धी ड्यूमाँ के विचार
21.4 ड्यूमाँ की सैद्धान्तिक प्रणाली
21.5 आर्थिक अन्तःक्रिया : जजमानी व्यवस्था
21.6 लुई ड्यूमाँ के उपागम की आलोचना
21.7 सारांश
21.8 मिलान कीजिये
21.9 मिलान प्रश्नों के उत्तर
21.10 संदर्भ–ग्रन्थ

21.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद छात्र–

1. एफ.जी. बेली, मेयर एवं मैरियट द्वारा प्रयुक्त अन्तःक्रियात्मक उपागमों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
2. लुई ड्यूमाँ की आधारभूत सैद्धान्तिक प्रणाली एवं भारतीय समाज में उसके प्रयोग को समझ सकेंगे।

21.2 प्रस्तावना

इस इकाई में फ्रांसीसी विचारक लुई ड्यूमाँ के विचारों का विवेचन किया जा रहा है। ड्यूमाँ ने मुख्यतया जाति व्यवस्था की विचारधारा से सम्बद्ध चिन्तन को महत्व दिया है। यह चिन्तन एक स्तर तक अन्तःक्रियात्मक सिद्धान्त की परिसीमाओं को कम करता है। यद्यपि ड्यूमाँ के सिद्धान्त में भी अनेक परिसीमायें अनुभव की जा सकती हैं जिनकी चर्चा हम करेंगे।

यह इकाई दो भागों में विभाजित की गई है। पहले भाग में उन महत्वपूर्ण तर्कों की संक्षेप में चर्चा की गई है जिनका अध्ययन आप बीसवीं इकाई में कर चुके हैं। ड्यूमाँ की सैद्धान्तिक प्रणाली अथवा जाति से सम्बद्ध उनके महत्वपूर्ण विचारों की भी इस भाग में चर्चा की गई है।

दूसरे भाग में हम अन्तःक्रिया के उन दो विशिष्ट प्रकारों की चर्चा करेंगे जिनका ड्यूमाँ ने अध्ययन किया है। ये दो प्रकार क्रमशः आर्थिक अन्तःक्रिया एवं सहभोजी विनिमय है। आर्थिक अन्तःक्रिया में "जजमानी व्यवस्था" को सम्मिलित किया गया है जबकि सहभोजी विनिमय में उन पद्धतियों अथवा माध्यमों का उल्लेख है जिनके द्वारा भोजन सम्बन्धी व्यवहार अथवा क्रिया का नियमन होता है। ड्यूमाँ के सिद्धान्त की मुख्य परिसीमाओं का भी इसमें उल्लेख किया गया है।

प्रारम्भ में हम अन्तःक्रिया उपागमों के विभिन्न प्रकार एवं उनके मुख्य तत्वों संक्षिप्त प्रकाश डालेगें।

21.3 जाति के अन्तःक्रियात्मक उपागम सम्बन्धी ड्यूमाँ के विचार

इकाई 20 में आपको एफ.जी. बेली, ए. मायर एवं मैकियम मैरियेट जैसे विचारकों से परिचित कराया गया था जिन्होंने जाति के अध्ययन हेतु अन्तःक्रियात्मक उपागम को विकसित किया है। इन तीन विचारकों ने भिन्न प्रकृति के विवेचन एवं मुख्य बिन्दु प्रस्तुत किए हैं परन्तु ये तीनों विचारक इस तर्क से सहमत है कि स्थानीय संदर्भ में प्रतिदिन की अन्तःक्रिया के प्रतिमानों के आधार पर जाति के क्रम विन्यास को प्रस्तुत किया जा सकता है। इस स्थानीय संदर्भ का अध्ययन इन विचारकों ने क्षेत्रीय अध्ययन के आधार पर किया है जो वस्तुतः अन्तःक्रियात्मक उपागम का महत्वपूर्ण गुण है। अन्तःक्रियात्मक उपागम से सम्बद्ध एक महत्वपूर्ण तर्क यह भी है कि संस्कारगत प्रस्थिति को सदैव गैर संस्कारगत प्रस्थितियों (जैसे आर्थिक एवं राजनीतिक प्रस्थिति) के साथ सम्बद्ध किया जाना चाहिए।

एफ.जी. बेली जाति को एक गत्यात्मक व्यवस्था के रूप में पाते हैं जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध प्रभुत्व जाति की शक्ति से है। बेली के अनुसार सांस्कारिक प्रस्थिति एवं गैर–सांस्कारिक प्रस्थितियाँ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। उदाहरण के लिए बिसीपाड़ा गाँव में बेली ने सांस्कारिक, राजनीतिक एवं आर्थिक प्रस्थितियों के मध्य पारम्परिक अन्तःप्रभाव के तत्व पाए। योद्धा बिसीपाड़ा की प्रभुत्व जाति से थे। जब योद्धा जाति के पास समृद्धि कम हो गई तो शराब बेचने का व्यवसाय करने वाली जाति ने योद्धा जाति के समकक्ष प्रस्थिति का दावा किया। सांस्कारिक संस्तरण में ब्राह्मण जाति के पश्चात् योद्धा जाति को प्रतिष्ठा क्रम में, प्रस्थिति प्राप्त है। योद्धा एवं शराब का व्यवसाय करने वाली जातियों ने तत्काल भोजन सम्बन्धी आदान–प्रदान के अपने प्रतिमानों में परिवर्तन कर लिए ताकि अपनी "श्रेष्ठता" को तथा प्रतिद्वन्द्वी जाति की "हीनता" को सिद्ध किया जा सके। एड्रिन मायर ने एक गाँव में निवास कर रही विभिन्न जातियों के मध्य पाई जाने वाली अन्तःक्रियाओं की प्रकृति का अध्ययन किया। मायर का मत है कि संस्तरण को समझने का सबसे उपयुक्त माध्यम सांस्कारिक प्रस्थिति है। दैनिक अन्तःक्रियाओं, जैसे भोजन, जल, धूम्रपान (हुक्का) सम्बन्धी अन्तःक्रियाएँ, में सांस्कारिक प्रस्थिति अभिव्यक्त होती है जो कि जाति के प्रत्येक सदस्य पर समान रूप से लागू होती है। भोजन से सम्बद्ध अन्तःसम्बन्ध जाति की प्रस्थिति को, आर्थिक एवं राजनीतिक अन्तः सम्बन्धों की तुलना में, अधिक प्रभावशाली रूप में निर्धारित करते हैं।

मायर ने मध्य भारत के रामखेड़ी गाँव का अध्ययन किया। मायर ने भोजन सम्बन्धी सम्पर्कों से जुड़े अनेक नियम एव व्यवहार प्रतिमानों का प्रेक्षण किया। उदाहरण के लिए रामखेड़ी के राजपूत, जो कि माँसाहारी हैं, कुम्हार एवं नाइयों को निम्न मानते हैं क्योंकि ये दोनों जातियाँ अपने से निम्न जाति बढ़ई से

'भोजन–सम्पर्क' रखती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि यदि कोई व्यक्ति अन्य जाति से भोजन स्वीकार कर लेता है तो उस व्यक्ति की प्रस्थिति भोजन स्वीकारने वाली जाती के समकक्ष हो जाती है। परिणामस्वरूप उस व्यक्ति को क्रम विन्यास में उच्च पद नहीं दिया जा सकता जिसने निम्न जाति के साथ भोजन सम्पर्क स्थापित किए हैं।

मैकियम मैरियट का मत है कि स्थानीय संदर्भ में पाए जाने वाले कारक जाति संस्तरण की गत्यात्मकता को प्रभावित करते हैं। सामाजिक अन्तःक्रिया के प्रतिमान एवं गाँव में निवासियों के मध्य विद्यमान एकमत की भावना संस्तरण में जाति की प्रस्थिति को निर्धारित करने वाले कारक हैं। किशनगढ़ी एवं राम नगला गाँवों के अध्ययन द्वारा मैरियट इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अन्तःक्रिया मूलतः संस्तरण की निर्धारक है परन्तु इसे गैर–सांस्कारिक प्रस्थितियाँ जैसे आर्थिक एवं राजनीतिक प्रस्थितियाँ और सुदृढ़ आधार प्रदान करती हैं। मैरियट के मतानुसार सांस्कारिक संस्तरण अधिकांशतः गैर–सांस्कारिक संस्तरणों से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। अन्तःक्रियात्मक उपागमों की अपनी परिसीमाएँ भी हैं। क्रम विन्यास के विवेचन हेतु दैनिक जीवन के अन्तःक्रिया प्रतिमानों के अतिरिक्त ये उपागम अन्य तत्वों अथवा कारकों पर भी बल देते हैं। स्थानीय संदर्भ पर इन उपागमों का अत्याधिक बल है जिससे जाति की विचारधारा वाले पक्षों की उपेक्षा हो जाती है। इस दृष्टि से लुई ड्यूमाँ के योगदान की चर्चा महत्वपूर्ण हो जाती है। ड्यूमाँ ने अन्तःक्रियात्मक उपागम की कुछ कठिनाइयों के निराकरण का प्रयास किया है। जाति को समझने में निश्चय ही ड्यूमाँ का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

21.4 ड्यूमाँ की सैद्धान्तिक प्रणाली

एक जाति की विशेषताओं का विवेचन उस जाति के अन्य जातियों से सम्बन्ध के आधार पर किया जा सकता है। ड्यूमाँ मैरियट की भाँति विभिन्न जातियों के बीच सम्बन्धों को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। लेकिन इसके साथ ही ड्यूमाँ आनुभविक वास्तविकताओं के आधार पर व्यापक अमूर्त सैद्धान्तिक व्यवस्था अथवा चिन्तन को भी प्रस्तुत करते हैं। स्थानीय अन्तःक्रियाएँ क्रम विन्यास के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। परन्तु यह क्रम विन्यास संस्तरण प्रणाली की भावना के लिए प्रतिक्रिया भी है जो सम्पूर्ण व्यवस्था के विस्तार से सम्बद्ध है। ड्यूमाँ की दृष्टि में जाति आर्थिक, राजनीतिक एवं नातेदारी व्यवस्थाओं से सम्बन्धित अन्तःक्रियाओं अथवा अन्तःसम्बन्धों की जटिलता है। अन्तःसम्बन्धों की यह जटिलता कुछ मूल्यों से, जो कि धार्मिक प्रकृति के हैं, प्रोत्साहन प्राप्त करती है।

ड्यूमाँ अपने काल के फ्रांसीसी परिवेश से अत्याधिक प्रभावित था। जाति व्यवस्था पर उनका अध्ययन 'होमो हाईरारकिकस' शीर्षक से सम्बद्ध के रूप में 1967 में फ्रांसीसी भाषा में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद 1969 में प्रकाशित हुआ। ड्यूमाँ की दृष्टि में 'समानता' एवं 'असमानता' विपरीत प्रकृति की अवधारणाएँ हैं। उनके मतानुसार समतावादी तंत्र पश्चिमी मूल्य है जबकि संस्तरण पूर्वी मूल्य है। ड्यूमाँ का तर्क है कि जाति वर्ग की भाँति स्तरीकरण का स्वरूप नहीं है। उनके अनुसार जाति असमानता का एक विशेष स्वरूप है जिसके आवश्यक तत्वों का अर्थ समाजशास्त्रियों द्वारा निकाला जाना चाहिए। विभिन्न जातियों के मध्य सम्बन्ध कुछ आधारभूत मान्यताओं द्वारा निर्मित होते हैं। ये मान्यताएँ जाति के आवश्यक तत्वों के रूप में व्यक्त की जाती हैं। ड्यूमाँ की दृष्टि में 'संस्तरण' जाति का आवश्यक मूल्य है जिसे हिन्दू धर्म का समर्थन प्राप्त है।

संस्तरण न केवल व्यक्तियों को विभिन्न प्रकार के क्रम प्रदान करता है अपितु जटिल भारतीय समाज में सहयोग व निकटता को भी निरन्तरता प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में 'संस्तरण' वह मूल्य व्यवस्था है जो हमारे समाज में एकता उत्पन्न करती है।

प्रारम्भ में हम ड्यूमाँ द्वारा दी गई जाति की परिभाषा का विवेचन करेंगे। ड्यूमाँ की परिभाषा बुग्ले के विचारों से अत्यधिक प्रभावित है। बुग्ले के अनुसार जाति की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

1) बड़ी संख्या में स्थायी समूह,

2) ये समूह विशिष्टीकरण को व्यक्त करते हैं,

3) ये समूह एक दूसरे से पृथक हैं,

4) ये समूह संस्तरण सम्बन्धों द्वारा एक दूसरे से सम्बद्ध हैं।

ड्यूमाँ का मत है कि उपरोक्त समस्त विशेषताओं का आधारभूत तत्व शुचिता एवं प्रदूषण के मध्य विरोध है। 'शुचिता' 'प्रदूषण' से उच्च है तथा इसे सदैव प्रदूषण से पृथक करके प्रस्तुत किया जाता है। जाति व्यवस्था जाति से सम्बद्ध व्यक्तियों के लिए तार्किक है क्योंकि इसमें शुचिता एवं प्रदूषण के मध्य का विरोध विद्यमान है। उदाहरण के लिए एक गाँव में ब्राह्मण एवं अस्पृश्य दोनों ही जातियों के सदस्य निवास करते हैं। ब्राह्मण सर्वोच्च हैं क्योंकि उनमें शुचिता हैं। इस सर्वोच्चता एवं शुचिता के कारण ब्राह्मण गाँव के केन्द्रीय स्थान में निवास करते हैं जबकि अस्पृश्य अथवा प्रदूषित होने के कारण निम्न हैं अतः वे गाँव के बाहर निवास करते हैं।

ड्यूमाँ के मतानुसार भारत में संस्तरण क्रम विन्यास को अभिव्यक्त करता है। यहाँ संस्तरण शक्ति एवां सत्ता को अभिव्यक्त नहीं करता। संस्तरण वह सिद्धान्त है जिसके माध्यम से तत्वों को 'सम्पूर्ण' के सम्बन्ध के साथ सम्बद्ध करते हुए उच्चता–निम्नता के क्रम प्रदान किए जाते हैं। अनेक समाजों में धर्म 'सम्पूर्ण' को समझने का आधार है अतः वहाँ क्रम विन्यास की प्रकृति भी मूलतः धार्मिक है। 'वर्ण' व्यवस्था में चार श्रेणियाँ हैं। इसके अतिरिक्त अस्पृश्यों की एक श्रेणी है। ये चार श्रेणियाँ दो में विभाजित हैं जिन्हें (1) शूद्र एवं (2) अन्य के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। 'अन्य' श्रेणी दो विरोधी समूहों वैश्य एवं अन्य में वर्गीकृत की जा सकती हैं। अन्त में ब्राह्मण एवं क्षत्रियों के रूप में विरोधी श्रेणियों का उल्लेख किया जा सकता है। भारत में 'प्रस्थिति' (ब्राह्मण) सदैव 'शक्ति' (राजा) से पृथक रही है। साथ ही 'शक्ति' प्रस्थिति से निम्न रही है अथवा 'प्रस्थिति' का 'शक्ति' पर नियंत्रण रहा है। राजा सदैव पुरोहित के नियंत्रण में रहा है। इसका अभिप्राय यह भी है कि आध्यात्मिकता को भारत में कभी राजनीतिक अवसर प्रदान नहीं किया गया। जबकि अनेक पश्चिमी देशों में धार्मिक नेता को शक्ति प्राप्त होती है। कैथोलिक ईसाई धर्म में वेटिकन नगर के मुखिया धर्म गुरु पोप को राजनीतिक शक्ति प्राप्त होती है।

भारतीय समाज में राजा को धर्म गुरु की तुलना में निम्न प्रस्थिति प्राप्त है अर्थात् राजा पर धर्म गुरु का नियंत्रण रहा है। परन्तु दोनों ने साथ मिलकर सम्पूर्ण परिवेश पर अपना नियंत्रण स्थापित किया है। राजा एवं धर्म गुरु एक दूसरे पर निर्भर भी हैं। राजा बलि का आदेश कर सकता है परन्तु धर्म गुरु केवल इस बलि सम्बन्धी कृत्य को कर सकता है। अन्य समाजों की भाँति यहाँ प्रस्थिति शक्ति की

तुलना में निम्न न होकर उच्च है। साथ ही शुचिता अथवा शूद्र एवं प्रदूषण अथवा अशुद्ध के मध्य आधारभूत विरोध है। संस्तरण की प्रकृति सांस्कारिक है जिसे धर्म का समर्थन प्राप्त है। जब शक्ति प्रस्थिति से निम्न होती है तब इस प्रकार का शुचिता संस्तरण विकसित हो सकता है। ब्राह्मण, जो कि शुचिता का साकार रूप है, सर्वोच्च है तथा सम्पूर्ण व्यवस्था पर प्रभुत्व अथवा वर्चस्व स्थापित करता है। परन्तु ब्राह्मण राजा के साथ मिलकर 'वर्ण व्यवस्था की अन्य श्रेणियों का विरोध करता है।

यदि आपने ड्यूमाँ के तर्कों का सावधानीपूर्वक अध्ययन किया है तो आप ड्यूमाँ एवं अन्तःक्रियात्मक उपागम से सम्बद्ध अन्य विचारकों के चिन्तन का तुलनात्मक विवेचन कर सकते हैं। अन्य अन्तःक्रियात्मक विचारकों ने जहाँ सांस्कारिक संस्तरण एवं इहलौकिक संस्तरण की चर्चा की है वहीं ड्यूमाँ ने केवल सांस्कारिक संस्तरण अथवा कर्मकाण्डीय संस्तरण की चर्चा की है वस्तुतः ड्यूमाँ का यह मत है कि इहलौकिक संस्तरण का तो अस्तित्व ही नहीं है क्योंकि संस्तरण की प्रकृति ही कर्मकाण्डीय अथवा सांस्कारिक है। उदाहरण के लिए जजमानी व्यवस्था को अनेक विचारकों ने आर्थिक प्रणाली के रूप में समझने का प्रयास किया है जबकि जजमानी व्यवस्था एक धार्मिक प्रणाली अथवा सांस्कारिक अभिव्यक्ति है। इस इकाई में हमने यह जानने का प्रयास किया है कि किस प्रकार ड्यूमाँ ने जाति व्यवस्था को नवीन दृष्टिकोण से समझा है। 'विचारधारा' अथवा 'मूल्य व्यवस्था' को जाति व्यवस्था का मूलाधार बताते हुए ड्यूमाँ शुचिता एवं प्रदूषण के आधारभूत भेद अथवा विरोध को जाति से सम्बद्ध करते हैं। ड्यूमाँ की दृष्टि में संस्तरण का मूल स्वरूप सांस्कारिक है।

सर्वप्रथम हम ड्यूमाँ के जजमानी व्यवस्था सम्बन्धी विश्लेषण का विवेचन करेंगे तत्पश्चात् ड्यूमाँ के सहभोज सम्बन्धी व्यवहार से सम्बद्ध विचारों की समीक्षा की जाएगी।

21.5 आर्थिक अन्तःक्रिया : जजमानी व्यवस्था

ड्यूमाँ का मत है कि जजमानी व्यवस्था "वंशानुगत व्यक्तिगत सम्बन्धों के माध्यम से श्रम विभाजन को व्यक्त करती है"। प्रत्येक परिवार के पास एक ऐसा परिवार होता है जो विशिष्ट सेवाएँ प्रदान करता है। सेवाएँ प्रदान करने वाले इस परिवार पर सेवा पाने वाले परिवार का एक प्रकार से अधिकार होता है। एक धोबी का परिवार अन्य जाति (उच्च) के परिवार को पूरे वर्ष तक सेवाएँ प्रदान करता है। एक शूद्र परिवार उच्च जाति के परिवार को किसी बाध्यता के अन्तर्गत कृषि सम्बन्धी सेवाएँ प्रदान कर सकता है। ये सेवाएँ व्यक्तिगत हैं तथा पारिश्रमिक का एक बड़ा भाग वस्तु (कृषि उत्पाद जैसे अनाज) के रूप में दिया जाता है। विभिन्न उत्सवों एवं समारोहों के अवसर पर भी सेवा करने वाली जातियों को वस्त्र एवं अनाज उपहार में दिए जाते हैं।

मूलतः जजमानी व्यवस्था श्रम विभाजन का एक स्वरूप है। भारतीय गाँवों में सामान्यतः दो प्रकार की जातियाँ हैं प्रथम जिनके पास भूमि का स्वामित्व है एवं द्वितीय वे जो कि भूमिहीन हैं। जिनके पास भूमि के बड़े भाग का स्वामित्व है वे जातियाँ स्थानीय स्तर पर प्रभावशाली एवं शक्ति सम्पन्न हैं। इस प्रकार की प्रभावशील एवं शक्ति सम्पन्न भूस्वामित्व वाली जातियाँ गाँवों में विद्यमान हैं। अतीत में यह प्रभुत्व जाति स्थानीय स्तर पर राजाओं की भूमिका का निर्वाह करती थी परन्तु स्वयं उस क्षेत्र के राजा के नियंत्रण में कार्य करती थी। अब इस 'प्रभुत्व

जाति' के साथ अनेक आश्रित जातियाँ सम्बद्ध हैं जो अनेक प्रकार की क्रियाएँ करती हैं। ये 'आश्रित जातियाँ' उच्च अथवा प्रभुत्व जाति की सेवा के प्रत्युत्तर में अपनी आजीविका निर्वाह के साधन प्राप्त करती हैं। अस्पृश्य एवं विशिष्ट जातियाँ (जैसे धोबी, नाई) इन प्रभुत्व जातियों की सेवा करने के लिए बाध्य हैं। यह सेवा व्यक्तिगत प्रकृति की है तथा इसमें उपकार का तत्व अन्तर्निहित है।

ड्यूमाँ यह तर्क देते है कि जजमानी व्यवस्था आर्थिक प्रणाली के साथ–साथ सांस्कारिक अभिव्यक्ति है। उनका मत है कि जजमानी व्यवस्था कुछ विशिष्ट विचारों द्वारा संचालित होती है। ये विचार आर्थिक शक्ति की सीमा निर्धारित करने में सक्षम हैं। संस्तरण का सिद्धान्त जो निर्धारित करता है कि कौन प्रभुत्वशाली है और कौन अधीनस्थ, विभिन्न समूहों की स्थिति को उपयुक्तता प्रदान करता है। यह सिद्धान्त प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक क्रियाओं का विरोधी है। किसी भी आर्थिक क्रिया में व्यक्ति को 'इकाई' की स्थिति प्राप्त है परन्तु जजमानी व्यवस्था में गाँव इकाई है। आश्रित जाति समुदाय को सेवाएँ प्रदान करती है न कि व्यक्ति हो। आश्रित जातियों के द्वारा ग्राम समुदाय की सेवा को समाज में संतुलन की निरन्तरता हेतु आवश्यक माना जाता है। यह दृष्टिकोण कि संतुलन हेतु जाति का उपयुक्त स्थान निर्धारित करना आवश्यक है सिद्ध करता है कि जाति संस्तरण की प्रकृति धार्मिक है। अतः जजमानी व्यवस्था श्रम विभाजन, आर्थिक अन्तःक्रिया एवं इहलौकिक अन्तःक्रिया मात्र नहीं है। यह अन्तःनिर्भरता की सांस्कारिक अभिव्यक्ति है। यह अन्तःनिर्भरता स्वयं धर्म से उत्पन्न होती है। अतः ड्यूमाँ जजमानी व्यवस्था को एक भिन्न संदर्भ में मूल्यांकित करने का प्रयास करते हैं तथा इस मूल्यांकन में 'मूल्य व्यवस्था' को पर्याप्त महत्व देते हैं।

सहभोज विनिमय

लुई ड्यूमाँ के मतानुसार सहभोज सम्बन्धी अन्तःक्रियाओं के नियम, जाति व्यवस्था के संगठन को प्रस्तुत करते हैं। सहभोज अन्तःक्रिया सम्बन्धी नियम जाति के क्रम विन्यास तथा श्रम विभाजन से घनिष्ठ एवं प्रभावशाली ढंग से सम्बन्धित हैं। इन नियमों का सम्बन्ध शुचिता के विचार से भी है। जातियों के मध्य क्रम विन्यास अथवा स्तरीकरण से निर्देशित अन्तःक्रियाएँ उन सम्पर्कों के प्रकारों को व्यक्त करती हैं जिन्हें प्रदूषित मानकर उपेक्षा का शिकार होना पड़ता है। भोजन का श्रेणीकरण व्यक्तियों के समूहों में वर्गीकरण एवं उनके बीच सम्बन्धों के साथ सम्बद्ध है। भोजन सामग्री का श्रेणीकरण इस दृष्टि से स्तरीकरण यथार्थ को प्रस्तुत करता है।

सहभोज अन्तःक्रिया में उपभोक्ता अथवा सहभोजी व्यक्ति की शुचिता, भोजन सम्बन्धी स्थान एवं अवसर के तत्व अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। कुछ महत्वपूर्ण अवसरों, जैसे विवाह, पर ब्राह्मण भोजन बनाता है ताकि विभिन्न जातियों के सदस्य विवाह के अवसर पर बिना संकोच भोजन कर सकें। दैनिक जीवन का भोजन विवाह के अवसर पर निर्मित भोजन से भिन्न होता है। यह भी जानना आवश्यक है कि शुचिता का प्रश्न प्रत्येक अवसर पर उत्पन्न नहीं होता है। उदाहरण के लिए धोबी वस्त्र साफ करता है एवं घर में स्वतंत्रतापूर्वक प्रवेश कर सकता है। परन्तु विवाह के अवसर पर जब वह ऐसा करता है तो वह अवसर को प्रदूषित बना देता है। अतः हम कह सकते हैं कि ड्यूमाँ की दृष्टि में सहभोज सम्बन्धी नियम संस्तरण पर अधिक बल देते हैं तथा पृथक्करण की उपेक्षा कर देते हैं। ये नियम शुचिता के विचारों पर भी आधारित हैं परन्तु विशिष्ट अवसरों पर ये नियम अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाते हैं।

21.6 लुई ड्यूमाँ के उपागम की आलोचना

लुई ड्यूमाँ के योगदान की बार–बार आलोचना इस आधार पर होती है कि उनके द्वारा प्रस्तुत सैद्धान्तिक व्यवस्था इतिहास के प्रति संवेदनशील नहीं है। दूसरे शब्दों में ड्यूमाँ द्वारा प्रस्तुत जाति व्यवस्था की विशेषताएँ अपरिवर्तनीय प्रतीत होती हैं। जबकि वास्तविक यह है कि विभिन्न कालों में जाति व्यवस्था अनेक तरीकों में परिवर्तित हुई है। ड्यूमाँ इसके अतिरिक्त भारतीय समाज को जड़ व अपरिवर्तनीय मानते हैं। सम्भवतः इसी कारण वे जाति व्यवस्था के एकतामूलक प्रकार्यों की चर्चा करते हैं।

जैसा कि पहले देखा गया है कि ड्यूमाँ ने 'शक्ति' एवं 'प्रस्थिति' के मध्य स्पष्ट अंतर अथवा पृथक्करण प्रस्तुत किया है। यह पृथक्करण कहाँ तक उपयुक्त है, इस तरह का प्रश्न भी उपस्थित किया जा सकता है। बेरमेन का तर्क है कि 'शक्ति' एवं 'प्रस्थिति' एक अर्थ में तो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। बेरमेन ने गोंड का उदाहरण प्रस्तुत किया है। गोंड समूह ने जहाँ पर भी भूमि के रूप में शक्ति प्राप्त की है उन्होंने अपनी प्रस्थिति को उपयुक्त बनाने हेतु व्यवहार के संस्तरणात्मक प्रतीकों को अपनाया है। शुचिता एवं प्रदूषण की बीच आधारभूत विरोध की जो चर्चा ड्यूमाँ ने की है, वह सार्वभौमिक नहीं है। कुछ जनजातीय समाजों में प्रस्थिति को शुचिता के साथ सम्बद्ध नहीं किया है अपितु पवित्रता एवं शुद्धता के मध्य अंतर स्थापित किया है। इसके साथ ड्यूमाँ के इस दृष्टिकोण पर भी प्रश्न चिह्न लगाया जा सकता है जिसके अंतर्गत वे जाति को मूल्यों (विचारधाराओं) की तार्किक सुसंगत व्यवस्था मानते हैं। ड्यूमाँ ने उन अनेक विरोधी आन्दोलनों की उपेक्षा की है जो जाति व्यवस्था की विचारधारा को चुनौती देते हुए भारतीय इतिहास के अनेक चरणों में उत्पन्न हुए हैं। ड्यूमाँ मूल्यों पर अत्यधिक बल देते हैं जिसके कारण जाति विभाजन के भौतिक आधार की उपेक्षा हो जाती है। ड्यूमाँ जाति एवं संघर्ष स्थितियों के मध्य सम्बन्ध का प्रेक्षण नहीं कर सके। उनकी दृष्टि में वर्णों के मध्य विशेषतः ब्राह्मण एवं क्षत्रियों के मध्य के सम्बन्ध पूरक प्रकृति के हैं।

21.7 सारांश

इस इकाई में हमने लुई ड्यूमाँ के जाति सम्बन्धी अध्ययन के विषय में जानने का प्रयास किया। जाति के इस अन्तःक्रिया सम्बन्धी उपागम में हमने ए. मायर, बेली एवं मैरियट के विचारों को जानने का प्रयास किया। इन विचारकों का मत था कि जातियों के मध्य दैनिक जीवन की अन्तःक्रिया के प्रतिमानों से क्रम विन्यास विकसित होता है। तत्पश्चात् हमने ड्यूमाँ के योगदान के बारे में जानने का प्रयास किया। हमने यह पाया कि ड्यूमाँ किस प्रकार 'संस्तरण' को जाति व्यवस्था के आवश्यक मूल्य के रूप में स्थापित करते हैं। इस संस्तरण की प्रकृति सांस्कारिकता (धर्म) पर आधारित है तथा इसमें प्रस्थिति एवं शक्ति का पृथक्करण का विशेषता के रूप में विद्यमान है। हमने यह भी पाया कि ड्यूमाँ किस प्रकार जाति को तर्कसंगत रूप में संगठित मूल्यों की व्यवस्था के रूप में व्यक्त करते हैं। ड्यूमाँ की दृष्टि में जजमानी व्यवस्था हिन्दू व्यवस्था से उत्पन्न अन्तःनिर्भरता की धार्मिक अभिव्यक्ति है। ड्यूमाँ का यह भी मत है कि सहभोज सम्बन्धी अन्तःक्रिया एवं सम्बद्ध नियम श्रेणीगत सम्बन्धों की वास्तविकता को व्यक्त करते हैं।

अन्त में हमने ड्यूमाँ के उपागम की आलोचनाओं की तरफ संकेत किया। हमने यह जाना कि किस प्रकार जाति को स्थिर एवं परिवर्तनीय व्यवस्था के रूप में स्वीकार कर ड्यूमाँ संघर्ष एवं विरोध की पूर्णरूपेण उपेक्षा करते हैं।

21.8 मिलान कीजिये

1.	होमो हैरारकिक्स	(क)	हट्टन
2.	कास्ट, क्लास एण्ड पावर	(ख)	घुरिए
3.	'कास्ट, क्लास एण्ड आकुपेशन	(ग)	आन्द्रे बेते
4.	कास्ट इन इण्डिया	(घ)	लुई ड्यूमाँ

21.9 मिलान प्रश्नों के उत्तर

1. (घ) लुई ड्यूमाँ
2. (ग) आन्द्रे बेते
3. (ख) घुरिए
4. (क) हट्टन

21.10 संदर्भ–ग्रन्थ

- बेली, एफ.जी. 1957, कास्ट एण्ड द इकोनामिक फ्रंटियर, द यूनिवर्सिटी प्रेस, मैनचेस्टर।
- घुरिये, जी.एस. 1950, कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया, पापुलर, बम्बई।
- श्रीनिवास, एम.एन (सम्पादित), 1960, इण्डियाज विलेजेज, एशिया पब्लिशिंग, नई दिल्ली।

इकाई–22

जाति एवं गतिशीलता

इकाई की रूपरेखा

22.1 उद्‌देश्य

22.2 प्रस्तावना

22.3 गतिशीलता की संकल्पना

22.4 जाति व्यवस्था में गतिशीलता सम्बन्धी विचार

22.5 जाति गतिशीलता का वैधानिकीकरण

22.6 सारांश

22.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

22.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

22.9 संदर्भ–ग्रन्थ

22.1 उद्‌देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद छात्र–

1. गतिशीलता की अवधारणा, विभिन्न समाज वैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत सामाजिक गतिशीलता की परिभाषा तथा सामाजिक गतिशीलता के विभिन्न आयामों से परिचित हो पाएंगे।
2. जाति व्यवस्था में गतिशीलता एवं भारतीय समाज में उसके कारकों से परिचित हो पाएंगे।

22.2 प्रस्तावना

भारतीय समाज जाति पर आधारित है जो कि व्यक्ति की प्रस्थिति को निर्धारित करने में सहायक है। जाति भारतीय समाज में अत्यन्त संकीर्ण एवं अगतिशील रही है। व्यक्ति के लिए वर्तमान जीवन में अपनी जाति प्रस्थिति को परिवर्तित करना अत्यन्त कठिन है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक जाति किसी न किसी व्यवसाय से सदैव सम्बद्ध होती है। अतः किसी व्यक्ति के लिए अपने व्यवसाय में परिवर्तन कर लेना भी समान रूप से कठिन है। आपने इस तर्क की तरफ भी ध्यान दिया होगा कि जाति एवं सम्बद्ध व्यवसायों को संस्तरण अथवा क्रम विन्यास में स्थान प्रदान किया जाता है जिसकी तुलना सीढ़ी के चरणों से की जा सकती है। इस क्रिया विन्यास में धार्मिक तत्व भी सम्मिलित हैं। इन तत्वों के सम्मिलित होने के परिणामस्वरूप व्यक्ति जाति प्रस्थिति को प्रदत्त प्रस्थिति के रूप में स्वीकार

कर लेता है चाहे उस व्यक्ति ने सम्पत्ति एवं ज्ञान इत्यादि के आधार पर कोई भी व्यक्तिगत उपलब्धि अर्जित की हो।

बाह्य रूप से ज्ञात कठोरता एवं भारतीय जाति व्यवस्था की अगतिशीलता प्रकृति के बावजूद व्यक्ति अथवा समूह के लिए ऐसे माध्यमों का प्रावधान है जो कि व्यक्ति की जाति प्रस्थिति में उर्ध्वगामी गतिशीलता को उत्पन्न करते हैं। इसमें से कुछ माध्यम हाल ही में उत्पन्न हुए हैं जबकि अनेक माध्यम जाति व्यवस्था जितने ही पुराने हैं और व्यवस्था में अन्तर्निहित हैं। इस इकाई में हम उन प्रक्रियाओं की चर्चा करेंगे जिनके माध्यम से व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का समूह अपनी जाति प्रस्थिति को परिवर्तित करने का प्रयास करता है। हम इस परिवर्तन के प्रयास के लिए उत्तरदायी कारकों का भी उल्लेख करेंगे।

22.3 गतिशीलता की संकल्पना

'गतिशीलता' शब्द का प्रयोग हम दिन–प्रतिदिन के व्यवहार में प्रायः करते रहते हैं। गतिशीलता का व्यापक संदर्भ में अर्थ किसी प्रकार का बदलाव है। गतिशीलता की अवधारणा में हम दो पक्षों–भौगोलिक गतिशीलता एवं सामाजिक गतिशीलता को सम्मिलित करते हैं। भौगोलिक गतिशीलता में स्थान सम्बन्धी परिवर्तन अथवा बदलाव को सम्मिलित करते हैं जबकि सामाजिक गतिशीलता सामाजिक क्षेत्र में होने वाला बदलाव अथवा परिवर्तन है। दूसरे शब्दों में एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह का एक सामाजिक पद से दूसरे सामाजिक पद की तरफ बदलाव अथवा परिवर्तन सामाजिक गतिशीलता है। एक उदाहरण द्वारा हम इस अवधारणा को स्पष्ट कर सकते हैं। जब एक व्यक्ति उपलब्ध अवसरों का प्रयोग कर कार्यालय लिपिक के पद से अनुभाग अधिकारी बन जाता है तो पदों में आने वाला ऐसा कोई भी बदलाव जो उच्च दिशा की तरफ हो अथवा निम्न दिशा की तरफ (उर्ध्वगामी हो अथवा अधोगामी) सामाजिक गतिशीलता कहलाता है।

सामाजिक गतिशीलता की परिभाषायें

प्रमुख समाजशास्त्री पी. सोरोकिन ने सामाजिक गतिशीलता की समग्र परिभाषा दी है जिसमें उन्होंने एक सामाजिक पद से दूसरे सामाजिक पद की तरफ बदलाव अथवा संक्रमण पर बल दिया है। सोरोकिन का मत है कि 'सामाजिक गतिशीलता' का अभिप्राय व्यक्ति, सामाजिक वस्तु अथवा मूल्य में उत्पन्न उस संक्रमण से है जिसे मानव क्रिया द्वारा या तो उत्पन्न किया गया है अथवा संशोधित किया गया है। यह संक्रमण एक सामाजिक पद से दूसरे सामाजिक पद की तरफ है। लिपसेट एवं बैन्डिक्स ने सामाजिक गतिशीलता को परिभाषित करते हुए कहा है कि सामाजिक गतिशीलता का अभिप्राय उस शक्ति से है जिसके द्वारा व्यक्ति, समाज में एक सामाजिक पद से दूसरे सामाजिक पद की तरफ बदलाव करते हैं। यह पद सामान्य सहमति के आधार पर विशिष्ट संस्तरणात्मक मूल्य प्रदान करते हैं एवं संस्तरणात्मक मूल्य प्राप्त करते हैं। इन विचारकों का आगे मत यह है कि सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन में हम क्रम–विन्यास में निश्चित व्यक्ति की प्रस्थिति में बदलाव का मूल्यांकन करते हैं जो उस व्यवस्था में उच्च अथवा निम्न पद प्रदान करता है। इन परिभाषाओं द्वारा उत्पन्न सहमति के आधार पर कहा जा सकता है कि एक व्यक्ति अथवा समूह द्वारा एक सामाजिक पद से किसी अन्य दूसरे सामाजिक पद की तरफ बदलाव किसी भी समाज में सामाजिक गतिशीलता का आधार है।

लिपसेट एवं बैन्डिक्स की परिभाषा से हमें एक अतिरिक्त परन्तु महत्वपूर्ण पक्ष के विषय में जानकारी प्राप्त होती है इन दोनों विचारकों का मत है कि पद सम्बन्धी किसी भी गतिशीलता अथवा बदलाव को समूह सम्बद्ध समाज की 'सामान्य स्वीकृति' द्वारा मान्यता प्राप्त होनी चाहिए। स्वाभाविक है कि यह समाज होगा जिसमें कि पद सम्बन्धी बदलाव हो रहा है। यदि इस तर्क को दूसरे रूप में प्रस्तुत किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि सामाजिक क्षेत्र अथवा पद अथवा व्यावसायिक आवश्यकताओं में हो रहे परिवर्तन का संस्थागत स्वरूप सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया की अत्यन्त महत्वपूर्ण पूर्व शर्तों में से एक है। इसका अभिप्राय है कि यदि सम्बद्ध समाज व्यक्ति, समूह अथवा व्यक्तियों की उपलब्धि को स्वीकार करते हैं एवं उसे महत्व प्रदान करते हैं तो ऐसी महत्वपूर्ण व उपयोगी प्रक्रिया को ही सामाजिक गतिशीलता की संज्ञा दी जानी चाहिए। चूंकि प्रत्येक समाज अपनी पद्धतियों द्वारा सामाजिक पदों का मूल्यांकन करता है सामाजिक गतिशीलता को एक स्तर तक समाज विशिष्ट कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए अमेरिकन समाज में धन का संकेन्द्रण सामाजिक गतिशीलता का अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व है जबकि परम्परागत भारतीय समाज में इसे अधिक महत्व नहीं दिया गया क्योंकि प्रदत्त जाति प्रस्थिति भारतीय समाज के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व है।

सामाजिक गतिशीलता के आयाम

प्रमुख समाजशास्त्री मैक्स वेबर का मत है कि शक्ति, धन एवं प्रतिष्ठा सामाजिक स्तरीकरण के तीन महत्वपूर्ण तत्व हैं। ठीक इसी प्रकार संग्रहित धन की मात्रा शक्ति जीवन स्तर के प्रकार एवं विश्राम के प्रकार एक व्यक्ति अथवा एक समूह के लिए सामाजिक गतिशीलता के संकेत हैं। लेकिन सोरोकिन ने वेबर के विचारों में थोड़ा संशोधन करते हुए सामाजिक स्तरीकरण में व्यवसाय की भूमिका की चर्चा पर बल दिया है। अतः सोरोकिन के मतानुसार सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया के निर्धारण में राजनीतिक एवं व्यावसायिक पक्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वस्तुतः विश्व के अनेक गतिशील समाजों में व्यक्ति की प्रस्थिति के निर्धारण में व्यावसायिक गतिशीलता की निर्णायक भूमिका है। जबकि संकीर्ण एवं परम्परागत समाजों में व्यावसायिक गतिशीलता की प्रस्थिति निर्धारण में भूमिका आंशिक है। सामाजिक गतिशीलता दो भिन्न दिशाओं क्रमशः 'क्षैतिज दिशा' एवं 'लम्बवत् दिशा' में क्रियाशील होती है। सोरोकिन के मतानुसार 'क्षैतिज सामाजिक गतिशीलता का अभिप्राय एक व्यक्ति अथवा सामाजिक इकाई का एक समूह से दूसरे समूह में बदलाव से है। इन समूहों का सामाजिक स्तर समान है'। 'लम्बवत् गतिशीलता' का अभिप्राय 'एक व्यक्ति अथवा सामाजिक इकाई का एक सामाजिक स्तर से दूसरे सामाजिक स्तर की तरफ बदलाव से है। स्वाभाविक है कि ये स्तर सामाजिक स्तर की दृष्टि से असमान हैं'।

सोरोकिन ने लम्बवत् गतिशीलता को दो भागों में विभाजित किया है। (1) आरोही अथवा अर्ध्वागामी अथवा उच्च स्तरीय सामाजिक गतिशीलता एवं (2) अवरोही अथवा अधोगामी अथवा निम्नस्तरीय सामाजिक गतिशीलता। हीलर ने भी सोरोकिन के क्षैतिज एवं लम्बवत् सामाजिक गतिशीलता सम्बन्धी विचारों का समर्थन किया है। हीलर का सुझाव है कि क्षैतिज गतिशीलता को उस बदलाव के रूप में परिभाषित किया जाना चाहिए जो एक व्यक्ति समान पदों वाले एक समूह से दूसरे समूह की तरफ करता है। जबकि लम्बवत् गतिशीलता एक व्यक्ति का एक सामाजिक पद से दूसरे सामाजिक पद की तरफ बदलाव है ये सामाजिक पद समान क्रम विन्यास को अभिव्यक्त करते हैं अर्थात् एक पद से दूसरे पद की जो

कि पहले पद की तुलना में उच्च अथवा निम्न है, प्राप्ति लम्बवत् सामाजिक गतिशीलता है।

समय के पक्ष के संदर्भ में भी सामाजिक गतिशीलता के दो प्रकार हैं जिन्हें (1) अन्तःपीढ़ी गतिशीलता एवं (2) अन्तरापीढ़ी गतिशीलता अथवा कैरियर गतिशीलता की संज्ञा दी जाती है। अन्तःपीढ़ी गतिशीलता दो अथवा अधिक पीढ़ियों के मध्य व्यक्तियों की सामाजिक प्रस्थिति में परिवर्तन को अभिव्यक्त करती है। जबकि अन्तरापीढ़ी गतिशीलता अथवा 'कैरियर' गतिशीलता का अभिप्राय एक ही पीढ़ी में व्यक्तियों के सामाजिक प्रस्थितियों में हुआ परिवर्तन है।

अब हम यह चर्चा करेंगे कि बन्द प्रकृति के पश्चात् भी भारतीय जाति व्यवस्था में विभिन्न प्रकारों की सामाजिक गतिशीलता पायी जाती रही है। सामाजिक गतिशीलता के इन विभिन्न पक्षों का हम अब विवेचन करेंगे।

22.4 जाति व्यवस्था में गतिशीलता सम्बन्धी विचार

जाति को भारतीय समाज में सामाजिक स्तरीकरण के अपरिवर्तनीय एवं बन्द स्वरूप की संज्ञा दी जाती है। इस तर्क के मूल आधार के रूप में हम जाति व्यवस्था के अन्तर्गत अनेक जातियों के संस्तरणात्मक क्रम को पाते हैं। यह भी यथार्थ है कि अपने सम्पूर्ण जीवनकाल में व्यक्ति जाति की प्रस्थिति अथवा अपनी जाति पहचान को परिवर्तित नहीं कर सकता। प्रत्येक जाति सामान्यतया एक व्यवसाय से सम्बद्ध है एवं यह अत्यन्त कठिन है कि एक व्यक्ति अपने जाति व्यवसाय को अस्वीकार कर नवीन व्यवसाय को ग्रहण कर ले। दूसरे शब्दों में यदि हम जाति व्यवस्था को कठोर प्रणाली के रूप में स्वीकार करें तो किसी भी व्यक्ति के पास इसके अतिरिक्त विकल्प नहीं है कि वह जन्म से प्राप्त जाति प्रस्थिति के द्वारा अपनी पहचान बनाये तथा जाति से सम्बद्ध व्यवसाय को ग्रहण करें। अन्य क्षेत्रों में वही उपलब्धियाँ व्यक्ति की अस्मिता को स्थापित करने का आधार नहीं बन सकती। भारतीय संविधि आयोग (इण्डियन स्टेट्यूटरी कमीशन 1930) के प्रतिवेदन में यह उल्लेख उपयुक्त ही है कि प्रत्येक हिन्दू आवश्यक रूप से अपने माता–पिता की जाति से सम्बद्ध है तथा उस जाति में यह अनिवार्य रूप से जीवन पर्यन्त बना रहता है। धन का संग्रह एवं योग्यता के उच्च स्तर के तत्व भी जाति प्रस्थिति को परिवर्तित नहीं कर सकते। अपनी जाति के बाहर विवाह सम्बन्ध या तो प्रतिबन्धित हैं या उन्हें पूर्णरूपेण हतोत्साहित किया जाता है। व्यवसाय का उल्लेख करते हुए इस प्रतिवेदन में कहा गया है कि व्यवसाय के स्वतंत्र चुनाव का अथवा जाति व्यवस्था का अथवा एक इकाई के रूप में जाति का अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व है। परम्परागत व्यवस्था में व्यवसाय परिवर्तन का कोई भी प्रयास एवं व्यक्ति अथवा समूह द्वारा उच्च जाति की प्रस्थिति का दावा जाति प्रतिमानों का स्पष्ट उल्लंघन था अतः ऐसे किसी भी प्रयास का दमन किया जाता है। यह स्थिति जाति की सांस्कृतिक पवित्रता के फलस्वरूप उत्पन्न हुई थी। इसके साथ ही जाति से सम्बद्ध व्यवसाय को भी धार्मिक स्वीकृति प्रदान की गयी थी। अतः जाति प्रतिमानों का उल्लंघन धर्म का उल्लंघन माना जाता था तथा अभियुक्त को जाति पंचायत द्वारा निर्धारित दण्ड दिया जाता था।

जाति स्तरीकरण की इस स्पष्ट कठोरता एवं व्यवसाय की अपरिवर्तनशील प्रकृति के बावजूद जाति व्यवस्था न तो कभी पूर्णरूपेण बन्द थी और न ही इसे वर्तमान में पूर्णरूपेण बन्द कहा जा सकता है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि भारतीय जाति व्यवस्था के कठोर प्रारूप के उपरान्त भी जाति में सामाजिक एवं सांस्कृतिक

गतिशीलता की कुछ सम्भावनाएँ हमेशा से पायी जाती हैं। अनेक ऐतिहासिक घटना क्रमों एवं सामाजिक सांस्कृतिक प्रक्रियाओं ने जाति व्यवस्था के अन्तर्गत गतिशीलता को उत्पन्न किया है तथा इस गतिशीलता के प्रति समाज की सहनशीलता भी रही है।

संस्कृतिकरण

प्रतिस्पर्धा की प्रक्रिया द्वारा जाति गतिशीलता के प्रारूप को एम.एन. श्रीनिवास ने प्रस्तुत किया है जिसे संस्कृतिकरण के रूप में जाना जाता है। इस प्रक्रिया में आवश्यक रूप से निम्न जातियों द्वारा ब्राह्मण जीवन शैली की नकल करने अथवा अनुकरण करने सम्बन्धी प्रयासों को सम्मिलित किया जाता है। एम. एन. श्रीनिवास के अनुसार 'संस्कृतिकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई निम्न जाति अथवा जनजाति अथवा अन्य समूह किसी उच्च और प्रायः द्विज जाति की दिशा में अपने रीति रिवाज, कर्मकाण्ड, विचारधारा अथवा पद्धति को परिवर्तित करता है। सरल रूप में हम यह कह सकते हैं कि जातियाँ जिन्हें जाति संस्तरण में अपेक्षाकृत निम्न पद प्राप्त हैं प्रायः उच्च जातियों के सांस्कृतिक पक्षों का अनुकरण करती हैं। इस अनुकरण के फलस्वरूप ये निम्न जातियाँ जाति संस्तरण में वर्तमान पद से उच्च पद का अथवा उच्च जातीय प्रस्थिति का दावा करती हैं।

संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में निम्न जाति के सदस्य स्थानीय उच्च जाति की सापेक्षिक रूप से उच्च जीवन शैली के साथ न केवल प्रतिस्पर्धा का प्रयास करते हैं अपितु उनके सांस्कृतिक क्रियाकलापों एवं धार्मिक सांस्कारिक कृत्यों को स्वीकार कर उन्हें अपने व्यवहार में प्रयुक्त करते हैं। इसके अतिरिक्त ये निम्न जातियाँ अधिकांश स्थितियों में प्रदूषित एवं निकृष्ट समझी जाने वाली क्रियाओं जैसे गोश्त खाना, चमड़े का कार्य, मृत जानवरों को एकत्रित करना, सुअर पालन, मदिरा सेवन इत्यादि का त्याग कर देती हैं। इन प्रयासों के द्वारा उर्ध्वगामी दिशा अथवा उच्च दिशा की तरफ गतिशीलता सम्भव हो जाती है। कुछ स्थितियों में ये निम्न जातियाँ शाकाहारी भोजन सम्बन्धी आदतों को सीखती हैं। ये आदतें सांस्कारिक शुचिता की प्रतीक हैं जिनके अपनाये जाने पर उच्च जाति के पद पर दावा करना सम्भव हो जाता है। उत्तर भारत में चमड़े का कार्य करने वाली चमार जाति, राजस्थान में भील तथा वाराणसी के निकट के खटीक इत्यादि जाति समूहों को यहाँ उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

इस संदर्भ में संस्कृतिकरण प्रारूप के दो महत्वपूर्ण तत्वों को यहाँ स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता है। प्रथम तो ये विसंस्कृतिकरण की प्रक्रिया से सम्बन्धित जाति की उर्ध्वाधर गतिशीलता में पद मूल परिवर्तन होता है यह संरचनात्मक परिवर्तन उत्पन्न नहीं करती। इसका स्पष्ट अर्थ है कि स्थानीय स्तर पर गतिशीलता केवल तभी प्रभावशील होती है जबकि एक विशिष्ट जाति संस्तरण पैमाने में वर्तमान पद की तुलना में उच्च पद प्राप्त करती हैं इस उर्ध्वगामी गतिशीलता का जाति व्यवस्था की क्षेत्रीय संस्तरण प्रणाली पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः संस्तरण प्रणाली का सामान्य रूप इस गतिशीलता से अप्रभावी है। अतः संस्कृतिकरण की प्रक्रिया एक निश्चित क्षेत्र अथवा स्थान को ही सीमित रूप से प्रभावित करती है क्योंकि इस प्रक्रिया से केवल उस क्षेत्र अथवा स्थान की जाति का ही सम्बन्ध है। दूसरे यह उर्ध्वगामी गतिशीलता का प्रारूप केवल हिन्दू जातियों से सम्बन्धित नहीं है जैसा कि प्रारम्भ में श्रीनिवास का दृष्टिकोण था। यह उर्ध्वगामी गतिशीलता देश के विभिन्न भागों में निवास कर रहे जनजातीय समुदायों में भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। विभिन्न क्षेत्रों की जनजातियों का अपने निकटवर्ती क्षेत्रों में निवास कर रही हिन्दू जातियों से दीर्घकालिक सम्पर्क रहा है।

वस्तुतः यह सम्पर्क अनेक पीढ़ियों पुराना है। परिसंस्कृतिग्रहण की प्रक्रिया के फलस्वरूप इन जनजातियों ने हिन्दू देवी देवताओं की पूजा करना प्रारम्भ कर दिया तथा हिन्दू जीवन पद्धति को अपना लिया। हिन्दू जाति का दावा करने वाली इन विभिन्न जनजातियों में हम राजस्थान के भील, मध्य भारत के गोंड एवं ओरॉव और पूर्वीभारत के संथाल, तथा भूइया की चर्चा कर सकते हैं जिन्होंने हिन्दू जाति का दावा संस्कृतिकरण की प्रक्रिया अपनाने के उपरान्त किया।

संस्कृतिकरण एक अत्यन्त मंद गति की प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत उर्ध्वागामी गतिशीलता के द्वारा कोई जाति वर्तमान जातीय पद से उच्च पद प्राप्त करती है। यद्यपि इस तथ्य का भी प्रेक्षण किया गया कि यदि जाति किसी भी माध्यम से आर्थिक अथवा राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर लेती है तो उच्च जाति प्रस्थिति का दावा करने से सम्बद्ध संस्कृतिकरण की प्रक्रिया तीव्र गति प्राप्त कर लेती है। उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग में निवास करने वाली नौनिया जाति इसका ज्वलन्त उदाहरण है। नमक बनाने वाली इस जाति ने अपना आर्थिक शक्ति के आधार पर उच्च जाति प्रस्थिति का दावा किया एवं क्षत्रिय जाति का पद प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की।

संस्कृतिकरण की अवधारणा को पुनः परिभाषित करने के पूर्व एम.एन. श्रीनिवास ने जाति गतिशीलता के ब्राह्मण प्रारूप को प्रस्तुत किया जिसके अन्तर्गत गैर–ब्राह्मण जातियों ने ब्राह्मणों की जीवन पद्धति का अनुकरण का प्रयास किया। इस प्रारूप से प्रभावित होकर विभिन्न विचारकों ने जाति गतिशीलता के विश्लेषण के क्षत्रिय, वैश्य एवं अन्य अनेक समान प्रारूपों को प्रस्तुत किया। इनमें से कुछ प्रारूपों का हम अब उल्लेख करेंगे।

पश्चिमीकरण

भारत में लगभग तीन सौ वर्ष के ब्रिटिश प्रशासन ने भारतीय समाज एवं संस्कृति में अनेक आमूलचूल एवं दीर्घकालीन प्रभाव वाले परिवर्तनों को उत्पन्न किया। प्रौद्योगिकी, शिक्षा, रोजगार, व्यापार एवं वाणिज्य, संचार, राजनीति इत्यादि, क्षेत्रों में हुए इन गुणात्मक परिवर्तनों ने भारत की पारम्परिक जीवन पद्धति को व्यापक रूप से प्रभावित एवं परिवर्तित किया। चूँकि ये सभी परिवर्तन पश्चिमी प्रभाव का परिणाम हैं अतः परिवर्तन की इस प्रक्रिया को 'पश्चिमीकरण' की संज्ञा दी गयी है। वस्तुतः यह अत्यन्त जटिल प्रक्रिया है। एम.एन. श्रीनिवास के मतानुसार पश्चिमीकरण एक पूर्ण जटिल एवं बहुस्तरीय अवधारणा है। यह एक तरफ पश्चिमी प्रौद्योगिकी को सम्मिलित करती है वहीं दूसरी तरफ आधुनिक विज्ञान की प्रयोगात्मक पद्धति एवं आधुनिक इतिहास विश्लेषण को सम्मिलित करती है। इसकी अस्थिर जटिलता इस तथ्य से ही प्रकट हो जाती है कि पश्चिमीकरण के विभिन्न पक्ष कभी तो सम्मिलित होकर किसी विशिष्ट प्रक्रिया को मजबूत बनाते हैं कभी उद्देश्यों के विपरीत हो जाते हैं और कभी–कभी एक दूसरे के विपरीत भी हो जाते हैं। इस जटिलता के बावजूद पश्चिमीकरण की प्रक्रिया ने सुविधाओं को अपने नियंत्रण में लेने के लिए कुछ जातीय समूहों को अनुकूल अवसर प्रदान किये। अधिकांश भागों में ब्राह्मण, व्यवसायी समूह जैसे पारसी एवं बनिया, खत्री एवं अरोड़ा, कोमती, चेतियार, कायस्थ एवं बेडियाज उन समूहों के उदाहरण हैं जिन्होंने अपने हितों के विस्तार हेतु पश्चिमीकरण की प्रक्रिया का उपयोग किया। पश्चिमीकरण ने ऐसे अनेक क्षेत्रों में जो कि मुख्यतः जाति–स्वतंत्र थे, नवीन अवसर प्रदान किये। ऐसे क्षेत्रों में हम शैक्षणिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों की चर्चा कर सकते हैं। इन अवसरों ने अनेक निम्न जातियों को प्रोत्साहित किया कि वे उर्ध्वगामी जाति गतिशीलता हेतु संघर्ष करें। निम्न जातियों को चूँकि यह अहसास

हो गया था कि संस्कृतिकरण अत्यन्त मन्द प्रक्रिया है तथा उन्हें उच्च जातियों के निकट लाने में अधिक सहायक नहीं है अतः इस उद्देश्य को शीघ्र प्राप्त करने के लिए उन्होंने पश्चिमी शिक्षा ग्रहण करने का निश्चय किया। इस प्रेरणा ने अनेक उपजातियों को एक दूसरे के अत्यन्त निकट किया, जाति संगठनों का निर्माण हुआ, जाति कल्याण से सम्बद्ध पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ, छात्रवृत्तियों हेतु धन एकत्रित हुआ, जाति के विद्यार्थियों के आवास हेतु छात्रावासों का निर्माण हुआ तथा जाति सम्बन्धी प्रथाओं में सुधार हुआ। इन समस्त प्रयासों का एक मात्र उद्देश्य उच्च जाति प्रस्थिति प्राप्त करना था। तमिलनाडु की बेलाला एवं पाडयाची, उत्तर प्रदेश एवं बिहार के अहीर, उड़ीसा के गौराज (दूध बेचने वाली जाति) जाति समूहों ने अपने परम्परागत व्यवसायों के साथ सम्बद्ध रहने से इन्कार कर दिया एवं उच्च जातियों का सम्बद्ध क्षेत्रों में विरोध किया। विभिन्न क्षेत्रों में जैसे मद्रास, बम्बई एवं अन्य केन्द्रों में ब्राह्मण की सर्वोच्चता के विरोध में गैर–ब्राह्मण आन्दोलन हुए। ऐसे आन्दोलनों का नेतृत्व आन्ध्र प्रदेश में रेड्डी एवं कामा, तमिलनाडू में बेलाला एवं केरल में नायर जाति समूहों ने किया। सत्य शोधक समाज के तत्वाधान में ज्योति राव फूले ने इस आन्दोलन का नेतृत्व किया। तत्पश्चात् ई.वी. रामास्वामी नायकर ने मानव व्यक्तित्व के गुणों पर बल दिया जाये वह व्यक्ति किसी भी जाति का हो।

इसी प्रकार देश के विभिन्न भागों में छोटे स्तर पर अनेक आन्दोलन हुए। परन्तु इन सब आन्दोलनों का मुख्य उद्देश्य उस गतिशीलता को अर्जित करना था जिससे वे जातीय समूह प्रस्थिति उच्च कर सकें जो सदियों से ब्राह्मणों से पिछड़े हुए थे। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु इन समूहों में यह इच्छा व्यापक रूप से उत्पन्न हुई कि अंग्रेजी में उच्च शिक्षा, सरकारी क्षेत्रों में रोजगार तथा नवीन राजनीतिक प्रक्रियाओं में सहभागिता के तत्वों को प्राप्त किया जाए जो कि पश्चिमीकरण की प्रक्रिया के द्वारा सम्भव था।

क्षेत्रीयकरण

जाति गतिशीलता के ब्राह्मण प्रारूप अथवा सांस्कृतिक प्रारूप के समकक्ष डी.एफ. पोकाक ने क्षत्रिय प्रारूप का उल्लेख किया है। पोकाक के मतानुसार ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ लोगों ने 'ब्राह्मण प्रारूप' के स्थान पर 'राजा के प्रारूप' का अनुकरण किया। यह अनुकरण राजा के व्यक्तियों पर व्यापक प्रभाव के कारण सम्भव हो सका। पोकाक के अनुसार किसी समय अथवा स्थान पर राजा के प्रारूप का उस क्षेत्र की गैर–ब्राह्मण जातियों द्वारा अनुकरण उस क्षेत्र की प्रभुत्वशाली राजनीतिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। सुरजीत सिन्हा ने भी मध्य भारत के जनजातीय क्षेत्रों में समान प्रक्रिया का उल्लेख किया है। इस क्षेत्र में जनजातियों ने 'राजपूतों' की जीवन पद्धति का अनुकरण किया ताकि स्थानीय संस्तरण में वे अपनी जातीय प्रस्थिति को उच्च बना सकें। स्टीफन एवं बर्नाट ने भी पोकाक तथा सिन्हा के मतों से सहमति व्यक्त की है। बर्नाट का मत है कि दक्षिण भारत में ब्राह्मण प्रारूप के अतिरिक्त 'राजा का प्रारूप' भी अस्तित्व में है। ये दोनों प्रारूप उच्च जाति प्रस्थिति की आकांक्षा करने वाले जाति समूहों के लिए संदर्भ प्रारूप का कार्य करते हैं।

के.एम. पाणिकर जैसे इतिहासकारों एवं अन्य विद्वानों ने ऐतिहासिक साक्ष्यों की सहायता से 'क्षत्रीयकरण' की प्रक्रिया को स्पष्ट किया है। पाणिकर की स्पष्ट मान्यता है कि पिछले दो हजार वर्षों के भारतीय इतिहास में क्षत्रिय जैसी कोई 'विशुद्ध' जाति नहीं पायी गयी है। पाणिकर की दृष्टि में पांचवीं शताब्दी ई.पू. में नन्द वंश अन्तिम विशुद्ध क्षत्रिय वंश था परन्तु इसके पश्चात् अनेक निम्न जातियों ने स्वयं को क्षत्रिय जाति से सम्बद्ध किया अथवा क्षत्रिय होने का दावा किया

क्योंकि इन निम्न जातियों ने अपनी सैन्य क्षमता के आधार पर तथा राजनीतिक शक्ति के माध्यम से भूमि के एक खण्ड पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। पाणिकर का कथन है कि हाल ही के वर्षों में शूद्र जातियों ने आश्चर्यजनक रूप से एक बड़ी संख्या में शासक परिवारों को उत्पन्न किया है। बंगाल के 'पाल' निर्विवाद रूप से इस जाति से सम्बद्ध थे। महान मराठा शासक परिवार के विषय में ऐसी कोई स्पष्ट वंशावली नहीं मिलती जिसके आधार पर उन्हें राजपूतों से सम्बद्ध किया जा सके यद्यपि इस परिवार की भूमिका राजपूतों की भूमिका के समकक्ष है। यहाँ तक कि जनजातीय समुदायों ने भारत के विभिन्न भागों में काल्पनिक वंशावली के द्वारा प्राचीन भारत के महान क्षत्रीय शासकवंशों से स्वयं को सम्बद्ध किया और अपने समुदायों को क्षत्रिय के रूप में स्थापित किया। उड़ीसा के राजगोंड एवं राजकली भूइयां स्वयं को क्षत्रियों से उत्पन्न हुआ मानते हैं एवं इस आधार पर स्थानीय संस्तरण में जाति प्रस्थिति प्राप्त करते हैं।

अधोगामी जाति–गतिशीलता

उपरोक्त विवेचन से आपको यह ज्ञात हुआ होगा कि जाति अत्यन्त कठोर नहीं है जैसा कि आरोप लगाया जाता है। इसके विपरीत ऐसे कुछ अवसर हैं जिनके माध्यम से संस्तरण प्रणाली एवं क्रम विन्यास के द्वारा निर्देशित जाति प्रणाली में ऊर्ध्वगामी प्रगतिशीलता सम्भव है। ठीक इसी प्रकार जाति व्यवस्था में अधोगामी सामाजिक गतिशीलता भी सम्भव है यद्यपि यह प्रक्रिया कभी–कभी उत्पन्न होती है एवं यह अत्यन्त मन्द भी है। हम अब यह चर्चा करेंगे कि किन परिस्थितियों में एवं किस प्रकार अधोगामी गतिशीलता जाति व्यवस्था में उत्पन्न होती है।

इस संदर्भ में एस.एल. कालिया की 'जनजातीयकरण' की अवधारणा की चर्चा आवश्यक हो जाती है। कालिया ने यह विवेचन किया है कि किस प्रकार जनजातीयकरण की प्रक्रिया उत्तर प्रदेश के जौनसार–बाबर एवं मध्य प्रदेश के बस्तर क्षेत्र में क्रियाशील है। कालिया के अनुसार जब उच्च्य जाति के हिन्दू जनजातीय जनसंख्या वाले क्षेत्रों में निवास करते हैं तो वे कुछ स्थितियों में जनजातियों के लोकाचार, संस्कार एवं विश्वासों को ग्रहण कर लेते हैं जो उनके स्वयं के लोकाचारों, संस्कारों एवं विश्वासों के विपरीत भी हो सकते हैं। कालिया ने उदाहरणों द्वारा इस तर्क को प्रस्तुत किया है। जौनसार–बाबर उत्तर प्रदेश के क्षेत्र में निवास करने वाले ब्राह्मण माँसाहारी भोजन करते हैं, मदिरापान करते हैं एवं इस क्षेत्र की पहाड़ी स्त्रियों से सम्पर्क रखते हैं, उनके धार्मिक संस्कारों अथवा समारोहों में सहभागिता करते हैं एवं धीरे–धीरे जनजातीय जीवन पद्धति को अपना लेते हैं। इस उदाहरण में सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया संस्कृतिकरण के बिल्कुल विपरीत है। बरूआ ने जनजातीय उड़ीसा में तीन शिल्पी जातियों के संदर्भ में जनजातीयकरण की प्रक्रिया की चर्चा की है। इनका कथन है कि लोहार, कुम्हार एवं जुलाहा नामक कम से कम तीन जातियाँ, जो दक्षिण उड़ीसा के जनजातीय क्षेत्रों में निवास करती हैं, अनेक वर्षों से अपने जनजातीय स्वामियों की सेवा कर रही हैं। इन जातियों ने धीरे–धीरे जीवन में जनजातीय पद्धतियों को अपनी जीवन पद्धति का भाग बना लिया है। एन.के. बोस का इस संदर्भ में तर्क है कि संस्कृति का प्रवाह आर्थिक दृष्टि से प्रभुत्वशील समूह की तरह उस समय होता है जब दोनों किन्हीं ऐतिहासिक परिस्थितियों अथवा कारणों वश विस्तृत उत्पादन संगठन को निर्मित करते हैं। अधोगामी गतिशीलता का उल्लेख मजूमदार ने भी किया है जो कि 'विसंस्कृतिकरण' का उल्लेख करते हैं। विसंस्कृतिकरण का अर्थ भी पूर्व उल्लिखित समान प्रघटनाओं को अभिव्यक्त करता है। ड्यूमाँ ने भी अधोगामी

गतिशीलता की चर्चा तमिलनाडु के प्रमालाई कल्लर समूह के संदर्भ में की है जो कि प्रदूषण वंशावली के फलस्वरूप अन्य समूहों से भोजन सम्बन्धी सम्पर्क रखने के लिए प्रतिबन्धित हैं।

अतः यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि भारत में कठोर दिखने वाली जाति व्यवस्था में दोनों ऊर्ध्वगामी एवं अधोगामी सामाजिक गतिशीलताएँ सम्भव हैं। इस इकाई में हमने निम्नलिखित पक्षों की चर्चा की है–

1) हमने सामाजिक गतिशीलता के अर्थ की चर्चा की है जिसे एक व्यक्ति, व्यक्तियों अथवा समूहों के मध्य प्रस्थितिमूलक बदलाव के रूप में सम्मिलित किया गया है अथवा परिभाषित किया गया है।

2) हमने क्षैतिज, लम्बवत्, ऊर्ध्वगामी अथवा उच्च, अधोगामी अथवा निम्न, अन्तःपीढ़ी एवं अन्तरपीढ़ी गतिशीलता के रूप में सामाजिक गतिशीलता के विभिन्न पक्षों की विवेचना की है।

3) हमने ऊर्ध्वगामी गतिशीलता के स्वरूपों के रूप में संस्कृतिकरण, क्षत्रीयकरण, अभिजन अनुकरण प्रारूप एवं पश्चिमीकरण की तथा अधोगामी गतिशीलता के स्वरूपों के रूप में जनजातीयकरण तथा विसंस्कृतिकरण की प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है।

जाति गतिशीलता पर मिल्टन सिंगर के विचार

संस्कृतिकरण एवं क्षत्रीयकरण के प्रारूपों पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए सिंगर का मत है कि अनुकरण की ये प्रक्रियाएँ सम्बद्ध विशिष्ट संदर्भों पर आधारित हैं। मिल्टन सिंगर का दृष्टिकोण है कि ग्रामीण भारत के विभिन्न भागों में प्रभुत्व जातियाँ निम्न जातियों के लिए संदर्भ समूह की भूमिका निभाती हैं। निम्न जातियाँ 'उच्च जातियों की जीवन शैली का अनुकरण कर उच्च जाति प्रस्थिति' का दावा करती हैं। सिंगर का तर्क स्पष्ट करता है कि अन्य जातियों के लिए केवल ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय ही संदर्भ जाति प्रारूप नहीं हैं अपितु व्यापारी, कृषक एवं अन्य जातियाँ भी संदर्भ जाति बन जाती हैं अर्थात् उनकी जीवन शैली का भी अनुकरण होता है। मिल्टन सिंगर के अनुसार स्थानीय दृष्टि से हम अवश्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शुद्र के रूप में चार वर्ण स्तरों की चर्चा करते हैं परन्तु इन वर्ण स्तरों की परिभाषा का अन्तवस्तु क्षेत्र एवं विशिष्ट क्षेत्र आनुभविक रूप से निर्धारित आवश्यकताओं से सुनिश्चित होता है।। यह भी पाया गया है कि इन विभिन्न वर्णों की सापेक्षिक प्रतिष्ठा एवं क्रम विन्यास में स्थिति विभिन्न क्षेत्रों में अलग–अलग है। साथ ही यह प्रतिष्ठा एवं क्रम विन्यास में स्थिति समय एवं समूह के द्वारा भी निर्धारित होती है। उदाहरण के लिए कुछ क्षेत्रों में राजा अथवा योद्धा से सम्बन्धित जीवन शैली ब्राह्मण की जीवन शैली के लगभग समान है अथवा ब्राह्मण जीवन शैली से उच्च है। सिन्हा के अनुसार इन क्षेत्रों में वे समूह जो वर्तमान जाति प्रस्थिति से उच्च प्रस्थिति के आकांक्षी हैं, राजपूतों की जीवन शैली का अनुकरण करते हैं। व्यापारी एवं कृषक जहाँ प्रभुत्व जातियाँ हैं उन क्षेत्रों में विभिन्न समूह व्यापारी एवं कृषकों की जीवन शैली का अनुकरण करते हैं।

22.5 जाति गतिशीलता का वैधानिकीकरण

यद्यपि निम्न जातियों की यह हार्दिक इच्छा होती है कि जाति व्यवस्था के अन्तर्गत वे अपनी जाति प्रस्थिति को उच्च बनाये परन्तु यह अत्यन्त दुरुह एवं कठिन प्रक्रिया है। परन्तु ऐसे कुछ सरल माध्यम हैं जिनके द्वारा निम्न जाति समूह

के आकाक्षी व्यक्ति उच्च जाति प्रस्थिति की प्राप्ति के प्रयास को वैधानिक अथवा संस्थागत आधार प्रदान कर सकें। आगे विश्लेषण में ऐसी ही कुछ प्रक्रियाओं की चर्चा करेंगे।

भूमि सीमाओं का अधिग्रहण एवं जाति गतिशीलता

पूर्व ब्रिटिश कालीन भारत में जाति संस्तरण की व्यवस्था में उच्च प्रस्थिति प्राप्त करने का एक माध्यम युद्ध द्वारा अथवा शान्ति पूर्ण तरीके से भौगोलिक सीमाओं पर अधिकार करना था। यदि उस भू–भाग पर जनसंख्या निवास नहीं करती थी अथवा बहुत सीमित जनसंख्या होती थी तब तो उस भू–भाग पर शान्तिपूर्ण अधिकार सम्भव होता था अन्यथा युद्ध में विजय प्राप्त कर भू–भाग का अधिग्रहण किया जाता था। एम.एन. श्रीनिवास इस प्रक्रिया को 'यौद्धिक माध्यम से गतिशीलता' को संज्ञा देते हैं। विजय के उपरान्त विजेता उस भूमि का शासक हो जाता था और क्षत्रिय वर्ण के सदस्य के रूप में स्वीकारा जाता था चाहे जन्म से उसकी कोई भी जाति हो। एक अन्य प्रक्रिया मध्य युगीन भारत में भी पायी जाती थी जिसमें जाति गतिशीलता के द्वारा क्षत्रिय जाति के पद की प्राप्ति सम्भव थी। मध्य युगीन भारत में हिन्दू शासकों को कृषक सम्मान के रूप में उत्पादित अन्न का एक भाग देते थे ताकि वह शासक अपनी सेना का भरण पोषण कर सके। कुछ ऐसे उदाहरण हैं जहाँ कृषक ने अधिक भू स्वामित्व होने के कारण अन्न उत्पादन के दिये जाने वाले भाग को सेना व सैन्य उपकरणों पर व्यय किया एवं अपना राज्य स्थापित करने के लिए और भूमि पर जबरदस्ती नियंत्रण अथवा अधिकार कर लिया। उस कृषक विजेता ने स्वयं को राजा घोषित कर दिया एवं उसे क्षत्रिय जाति पद प्राप्त हो गया। कालान्तर में उस राजा के नातेदार यहाँ तक कि दूर के नातेदार भी क्षत्रिय जाति के सदस्य के रूप में स्वीकार कर लिये गये। मराठा शासक शिवाजी इसके उदाहरण हैं। इनकी मराठा जाति शूद्र वर्ण से सम्बद्ध मानी जाती थी अतः शिवाजी को क्षत्रिय पद प्राप्त करने के लिए धार्मिक संस्कार सम्पन्न करने पड़े। उनकी विजय ने न केवल शिवाजी की व्यक्तिगत जाति प्रस्थिति को उच्च बनाया अपितु समस्त मराठा क्षत्रिय के रूप में स्वीकार कर लिये गये। समान उदाहरणों की चर्चा पूर्व ब्रिटिश कालीन एवं ब्रिटिश कालीन भारत में उत्पन्न छोटी रियासतों के संदर्भ में की जा सकती है। प्रारम्भ में इन रियासतों के शासक (गृहजाट) जमींदार अथवा भू–स्वामियों द्वारा शासित थे। इन अधिकांश गृहजाटों ने क्षत्रिय होने का दावा किया। इने इस दावे को मान्यता भी प्रदान कर दी गयी। इनमें से कुछ ने काल्पनिक कहानियाँ निर्मित कर लीं तथा स्वयं को स्थापित एवं प्रतिष्ठित क्षत्रिय शासकों से सम्बद्ध कर लिया।

संरक्षण एवं जाति गतिशीलता

उन व्यक्तियों अथवा समूहों को उच्च जाति का पद तत्काल प्रदान किया गया जिन्होंने समकालीन हिन्दू अथवा गैर–हिन्दू राजाओं की पूर्ण समर्पित भावना से तन्मयता पूर्वक सेवा की। इस तर्क की पुष्टि में अनेक प्रमाण प्रस्तुत किय जा सकते हैं। गुजरात के पट्टीदार जो कि परम्परागत रूप में शूद्र वर्ण से सम्बद्ध समूह था, ने शिवाजी के मराठा वंशजों गायकवाड़ का समर्थन किया जो कि मध्य गुजरात में शासन कर रहे थे। गायकवाड़ का संरक्षण मिलने के फलस्वरूप पट्टीदार ने धीरे–धीरे क्षत्रिय पद का दावा किया जिसे बिना किसी विशेष विरोध के स्वीकृति प्राप्त हो गयी। यह उदाहरण जाति गतिशीलता की मूर्त अभिव्यक्ति है।

राजकीय संरक्षण के आधार पर जाति प्रस्थिति उच्च करने का एक अन्य उदाहरण कायस्थों का है जो परम्परागत रूप में मुंशी या लिपिक थे। प्रारम्भ में

उन्होंने मुगलों की सेवा की, तत्पश्चात् ब्रिटिश शासकों की सेवा की। अपने स्वामियों के संरक्षण के कारण उत्तर भारत के विभिन्न भागों में वे 'द्विज' जाति की प्रस्थिति प्राप्त कर सके।

पूर्वी भारत विशेषतः उड़ीसा के जनजातीय क्षेत्र में ऐसे अनेक साक्ष्य हैं जिनसे ज्ञात होता है कि अनेक जनजातियाँ हिन्दू जातीय संरचना का भाग बन गयी। उदाहरण के लिए उत्तर–पश्चिम उड़ीसा की एक जनजाति 'भूइयां' जो कि जाति संरचना से बाह्य थी 'स्पृश्य' जाति के रूप में स्वीकार की गयी ताकि भूँइया समुदाय के सदस्यों से कोई भी व्यक्ति जलग्रहण कर सके। जनता ने बिना किसी आपत्ति के उच्च जाति प्रस्थिति को स्वीकार कर लिया क्योंकि यह स्थानीय शासक का आदेश था। पूर्व ब्रिटिश कालीन भारत में एक आदर्शवादी एवं रूढ़िवादी हिन्दू शासक का यह धार्मिक कर्तव्य था कि वह अपने राज्य में जाति व्यवस्था की मर्यादा बनाये रखे। पवित्र ग्रन्थों में चूंकि राजा को जाति सम्बन्धी प्रश्नों पर निर्णय का अधिकार दिया गया था अतः वह किसी भी जाति की प्रस्थिति को उच्च अथवा निम्न कर सकने में सक्षम होता था। यहाँ तक कि राजा का इस विषय में निरंकुश अथवा स्वेच्छाचारी निर्णय, जिसके द्वारा वह किसी विशिष्ट जाति की प्रस्थिति को उच्च अथवा निम्न करता था, जनता के द्वारा सम्मानित ढंग से स्वीकार किया जाता था।

राजकीय संरक्षण के अतिरिक्त 'मंदिर सेवा' जाति गतिशीलता का एक अन्य माध्यम था। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो स्पष्ट करते हैं कि पुरी में जगन्नाथ मंदिर तथा भुवनेश्वर में भगवान लिंगराज मंदिर में स्थापित देवताओं की आवश्यक सेवाओं को समर्पित निम्न जातियाँ किस प्रकार उच्च जाति प्रस्थिति प्राप्त कर सकें। पुरी में सेवा करने वाला समुदाय 'दैता' इसका उदाहरण है। दैता समुदाय की मन्दिर सेवाओं के कारण उन्हें 'स्पृश्य' जाति के रूप में स्वीकारा गया है। भगवान जगन्नाथ की सेवा करने के कारण पुरी के राजा ने 'दैता' को जागीर (उपहार में भूमि) प्रदान की। ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ ब्राह्मणों ने अपने विशेषाधिकार का प्रयोग करते हुए अपने संरक्षण अथवा 'जजमानों' की जाति प्रस्थिति को उच्च बनाया। अवलोकन के आधार पर मत है कि खत्रियों के साथ सम्बद्ध ब्राह्मण पुराहितों ने इन्हें क्षत्रिय जाति की प्रस्थिति प्रदान करने में निर्णायक भूमिका का निर्वाह किया। खत्रियों को इस क्षेत्र में शूद्र जाति से उत्पन्न हुआ माना जाता था। परन्तु धीरे–धीरे इन्हें क्षत्रिय जाति से सम्बद्ध मान लिया गया और सामान्य समुदाय ने भी इस परिवर्तन को स्वीकार कर लिया।

ब्रिटिश शासन में जाति गतिशीलता

जिस प्रकार हिन्दू राजाओं ने भारतीय जनसमुदाय की जाति प्रस्थिति को उच्च स्तरीय अथवा निम्न स्तरीय गतिशीलता प्रदान करने में सहायता की, ठीक उसी प्रकार ब्रिटिश प्रशासन ने भी ऐसी भूमिका का निर्वाह किया। ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारत में जनगणना पद्धति को प्रारम्भ किया गया। इस प्रणाली में पायी जाने वाली विभिन्न जातियों के श्रेणी विन्यास में पद निर्धारित करने के प्रयास किये गये। 1891 से 1931 के मध्य के जनगणना प्रतिवेदनों से स्पष्ट है कि अनेक मध्यम एवं निम्न जाति समूहों ने स्वयं को इन प्रतिवेदनों में उच्च जातियों के रूप में पंजीकृत कराया ताकि स्थानीय जाति संस्तरण में वे इस 'जाति–प्रस्थिति' में परिवर्तन का दावा कर सकें। यदि अधिकतम संख्या में उस समय किये गये जब जनगणना आयुक्त हरबर्ट रिजले ने समस्त जातियों की क्रम विन्यास में प्रस्थिति प्रस्तुत करने का प्रयास किया। अनेक जातियों ने नये जातीय सम्बोधनों के साथ उच्च प्रस्थिति के दावे किये। उदाहरण के लिये बंगाल की कुर्मी जाति ने क्षत्रिय

प्रस्थिति का दावा किया जबकि तेली जाति (तेल निकालने वाली जाती) वैश्य बनना चाहती थी। इस प्रक्रिया ने अनेक भ्रम उत्पन्न किये जिनके परिणामस्वरूप अन्तर्जातीय तनाव अस्तित्व में आये। जिला समितियों की नियुक्ति की गयी एवं उनके द्वारा लिये निर्णयों को अन्तिम माना गया। इस प्रक्रिया में सरकारी आदेशों के कारण कुछ जातियों को परिवर्तित जाति प्रस्थिति प्राप्त हो गयी और इन परिवर्तित प्रस्थितियों को पंजीकृत कर दिया गया। परन्तु जाति प्रस्थितियों के पंजीकरण को 1931 के जनगणना कार्यक्रम से समाप्त कर दिया गया तथा उत्पन्न हुए विवाद सदैव के लिए समाप्त हो गये।

सम्पत्ति एवं जाति गतिशीलता

जाति के पद निर्धारण में सुविधा अथवा विलासिता की महत्वपूर्ण भूमिका है। एक विशिष्ट जाति जितनी अधिक विलासी एवं सुविधा सम्पन्न होगी, उसकी प्रस्थिति उतनी ही अधिक उच्च होगी। जाति जितनी कम विलासी अथवा कम सुविधा सम्पन्न होगी उसकी प्रस्थिति उतनी ही निम्न होगी। विलासिता अथवा सुविधासम्पन्न का सम्बन्ध धन से है। विशेषतः जाति द्वारा नियन्त्रित भू–सम्पत्ति का सम्बन्ध विलासिता से है। अतः धन की प्राप्ति, विशेषतः भूमि के रूप में धन, जाति को विलासी जीवन शैली के उपभोग हेतु सक्षम बनाती है। जाति के इस विलासपूर्ण जीवनयापन का मुख्य तत्व यह है कि अधिकांश निम्न स्तर के कार्य निम्न जाति के सेवकों द्वारा किये जाते हैं। इस प्रक्रिया ने धीरे–धीरे कृषि कार्यों से सम्बद्ध निम्न जातियों को उच्च जाति की पहचान का भाग बनने का अवसर प्रदान किया। उदाहरण के लिए महाराष्ट्र की कनबी जाति को अब मराठों की प्रस्थिति प्राप्त है।

इस इकाई में हमने ऊर्ध्वगामी जाति गतिशीलता की उन प्रक्रियाओं की विवेचना की है जो सापेक्षिक दृष्टि से सरल हैं एवं कुछ स्थितियों में तत्काल परिणाम उत्पन्न करती हैं परन्तु इन प्रक्रियाओं में निम्नलिखित में से किसी एक पक्ष की उपस्थिति अथवा उसका हस्तक्षेप आवश्यक है–

1) युद्ध के द्वारा भू–भाग पर अधिकार अथवा शान्तिपूर्वक पद्धति से भूमि का अधिग्रहण,

2) शक्तिशाली शासक अथवा राजा, मंदिर प्रशासन अथवा ब्राह्मण पुरोहित का संरक्षण,

3) जाति सम्बन्धी पक्षों के विषय में ब्रिटिश प्रशासन के निर्णय,

4) सम्पत्ति पर विशेषतः भूमि के रूप में सम्पत्ति पर नियंत्रण तथा विलासी अथवा सुविधासम्पन्न जीवन शैली का उपभोग जिसमें किसी निम्नस्तरीय कार्य को स्वयं नहीं किया जा सकता

22.6 सारांश

एक सामान्य प्रेक्षणकर्ता को जाति व्यवस्था अत्यन्त कठोर एवं बन्द प्रतीत होती है परन्तु वास्तविकता यह है कि एक सीमा तक यह लचीली भी है तथा ऊर्ध्वगामी अर्थात् क्रमशः उच्च एवं निम्न स्तरीय जाति गतिशीलता को स्वीकृति प्राप्त है। कुछ ऐसी संस्थागत एवं अनवरत् प्रक्रियाएँ जाति व्यवस्था की परिधि के अन्दर पायी जाती है जो ऊर्ध्वगामी जाति गतिशीलता को प्रोत्साहित करती हैं। इस संदर्भ में उच्च हिन्दू अथवा द्विज जातियों की जीवन शैली को स्वीकार करने अथवा उसका अनुकरण करने की प्रक्रिया की चर्चा की जा सकती है जिसे एम.एन.

श्रीनिवास ने 'संस्कृतिकरण' की संज्ञा दी है। अधिकांश निम्न जाति समूहों में उस क्षेत्र की प्रभुत्वशील जाति की जीवन शैली का अनुकरण करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है अतः ऊर्ध्वगामी जाति गतिशीलता के अनेक स्थानीय प्रारूपों का उल्लेख किया जा सकता है। पोकाक का क्षत्रीयकरण का प्रारूप एवं सिंगर द्वारा प्रस्तुत प्रारूप इसके उदाहरण हैं। हाल के वर्षों में विशेषतः ब्रिटिश शासन के दौरान एवं भारत की स्वाधीनता प्राप्ति के उपरान्त शिक्षा, रोजगार, आर्थिक एवं राजनीतिक शक्ति प्राप्त करना जाति गतिशीलता के महत्वपूर्ण तरीके बन गए हैं। इस प्रक्रिया को श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण एवं लिंच ने अभिजन अनुकरण प्रारूप की संज्ञा दी है। इसके अतिरिक्त उच्च जातियों (विशेषतः ब्राह्मण) के वर्चस्व के विरूद्ध प्रतिक्रिया के रूप में पिछड़े वर्गों के आन्दोलन, आर्य समाज, ब्रह्म–समाज, सत्यशोधक समाज इत्यादि की चर्चा की जा सकती है। भारत में जाति व्यवस्था के अन्तर्गत केवल ऊर्ध्वगामी जाति गतिशीलता की स्थिति ही उत्पन्न नहीं हुई अपितु अधोगामी जाति गतिशीलता की प्रक्रिया भी उत्पन्न हुई है। इतना अवश्य है कि अधोगामी जाति गतिशीलता के उदाहरण अपेक्षाकृत कम है। 'मजूमदार' की 'विसंस्कृतिकरण' एवं 'कालिया' द्वारा व्यक्त 'जनजातीयकरण' की प्रक्रिया अधोगामी जाति गतिशीलता के उदाहरण हैं। ब्रिटिश शासन के दौरान एवं पूर्व ब्रिटिश कालीन भारत में ऊर्ध्वगामी जाति गतिशीलता के सरल माध्यमों का उल्लेख किया जा सकता है। भू–भाग पर नियंत्रण ब्राह्मण अथवा राजा अथवा शासक, मन्दिर प्रशासन का संरक्षण एवं भारत की जनगणना के समय जाति की श्रेणी के निर्धारण में ब्रिटिश शासन के निर्णय ऊर्ध्वगामी जाति गतिशीलता हेतु ऐसे तुलनात्मक दृष्टि से सरल माध्यम हैं।

अतः यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि जाति व्यवस्था पूर्णरूपेण बन्द अथवा कठोर सामाजिक व्यवस्था नहीं है। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि जाति व्यवस्था में होने वाली इस गतिशीलता के केवल स्थानीय प्रभाव हैं। इस गतिशीलता ने स्थापित भारतीय वर्ण–संस्तरण को परिवर्तन के संदर्भ में प्रभावित नहीं किया है। वर्ण संस्तरण चूँकि समान एवं स्थिति प्रकृति का होता है अतः जाति गतिशीलता केवल पद मूलक परिवर्तन को एक स्थान अथवा क्षेत्र के ढाँचे के अन्तर्गत उत्पन्न करती है।

22.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. संस्कृतिकरण की अवधारणा सम्बन्धित है–

   (क) एम.एन. श्रीनिवास (ख) आन्द्रे बेते

   (ग) कूले (घ) घुरिये

2. आरोही व अवरोही गतिशीलता के विषय में बताने वाले विचारक है–

   (क) सोरोकिन (ख) व्हीलर

   (ग) लिप्सेट व बेनडिक्स (घ) कूले

3. संदर्भ–समूह की अवधारणा दी–

   (क) मर्टन (ख) हाइमैन

   (ग) कूले (घ) सोरोकिन

4. 'कास्ट, क्लास एण्ड पावर' कृति किसकी है–

   (क) आन्द्रे बेते   (ख) घुरिए

   (ग) कूले   (घ) मजूमदार

22.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1. क
2. क
3. ख
4. क

22.9 संदर्भ–ग्रन्थ

- श्रीनिवास, एम.एन., 1966, सोशल चेन्ज इन मार्डन इण्डिया, यूनिवर्सिटी आफ कैलीफोर्निया प्रेस, बर्कले।
- सिल्वर वर्ग, जेम्स, 1968, सोशल मोबिलिटी इन द कास्ट सिस्टम इन इण्डिया, माटनःदिहेगा।

इकाई–23

पृथक्करण एवं अस्पृश्यता

इकाई की रूपरेखा

23.1 उद्देश्य

23.2 प्रस्तावना

23.3 अस्पृश्यता : एक विश्लेषण

23.4 अस्पृश्यता एवं सांस्कृतिक पृथक्करण

23.5 अस्पृश्यता के विरूद्ध सामाजिक सुधार आन्दोलन

23.6 सारांश

23.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

23.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

23.9 संदर्भ–ग्रन्थ

23.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद छात्र–

1. पृथक्करण व अस्पृश्यता के अर्थ एवं जाति व्यवस्था के सन्दर्भ में अस्पृश्यता व पृथक्करण की भूमिका को समझेंगे।
2. अस्पृश्यता, समाज, व्यवसाय में संरचनात्मक व्यवस्था व मूल व्यवस्था को किस प्रकार प्रभावित करता है, को विस्तृत रूप में समझेंगे।

23.2 प्रस्तावना

इस इकाई में हम सभी भारतीय समाज में अस्पृश्यता के दुष्परिणामों व प्रभावों का विशद् अध्ययन करेंगे। हमारे समाज में अस्पृश्यता ने वर्तमान व अतीत में किस प्रकार पृथक्करण को जन्म दिया है, जान सकेंगे। परम्परागत हिन्दू वर्ण व्यवस्था को आधार मानते हुये अस्पृश्यता को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। अस्पृश्यता की समस्या, किस प्रकार समाज के लोगों में संरचनात्मक स्तर पर पृथक्करण उत्पन्न किया है को सरलता से जान सकेगें। विविध राजनीतिक क्रियाओं द्वारा जनजागरण को जागरूक बनाने का प्रयास किया गया है जिससे समाज की संरचनात्मक व्यवस्था भी सुरक्षित रहें व कर्तव्यों तथा अधिकारों के बीच एक समन्वय को भी स्थापित करने का प्रयास किया गया है।

23.3 अस्पृश्यता : एक विश्लेषण

अस्पृश्यता एवं सतत् पृथक्करण हमारे समाज के हिन्दू सामाजिक संगठन द्वारा उत्पन्न हुए हैं। परम्परागत हिन्दू सामाजिक व्यवस्था चार वर्णों में विभाजित थी। प्रत्येक वर्ण अनेक जातियों एवं उप–जातियों में विभाजित था। हिन्दू जनसंख्या की ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के रूप में संरचना मूल्यांकनात्मक एवं स्थापित असमानता पर आधारित है। अतः ब्राह्मण, शूद्रों से न केवल धार्मिक रूप से ही श्रेष्ठ थे वरन् मौजूदा स्थितियों, जैसे कि शक्ति का वितरण तथा सम्पत्ति से सम्बन्धित क्षेत्र में भी श्रेष्ठ थे। शूद्रों की तुलना में उन्हें अत्यधिक शक्ति तथा आर्थिक सुरक्षा प्राप्त थी।

इस अनुक्रम व्यवस्था में फिर भी अछूतों अथवा अनुसूचित जाति के लोगों को सबसे नीचा स्थान दिया गया था। उनको जाति से बहिष्कृत माना जाता था क्योंकि वे परम्परागत चतुर्वर्ण व्यवस्था में शामिल नहीं थे। ऐसा होते हुए भी सच तो यह है कि धार्मिक अनुष्ठानों (मूल्य आधारित) तथा व्यवस्था के मौजूदा कार्यों, दोनों ही अवस्थाओं में अछूत हमेशा से हमारे समाज के अभिन्न अंग रहे हैं। वास्तविकता तो यह है कि हिन्दू परिवारों के लगभग सभी धार्मिक कार्यों में अछूत जाति के लोगों की सेवाओं की आवश्यकता पड़ती है। बच्चों के जन्म के अवसर पर, विवाह में तथा मृत्यु सम्बन्धी अनुष्ठानों में अछूतों की सेवाएँ अनिवार्य मानी गई हैं। इसी प्रकार ग्रामीण भारत में अभी भी अछूत जाति के कामगार लोगों का बहुत बड़ा भाग कृषि उत्पादन संगठन से जुड़ा हुआ है। यही कारण है कि एम.एन. श्रीनिवास ने इनको परम्परागत हिन्दू सामाजिक संगठन की पाँचवी श्रेणी माना है। इस विचारधारा से जीवन के मूल्यों तथा जीवन की दशाओं, दोनों में ही निरन्तर अलगाव बना हुआ है परन्तु इस तरह के अलगाव की परिचर्चा करने से पहले आपको तथाकथित अछूतों के बारे में विस्तृत रूपरेखा देना आवश्यक है।

परम्परागत व्यवस्था के अन्तर्गत अस्पृश्य अपनी निम्न सामाजिक एवं सांस्कारिक प्रस्थिति के कारण अनेक निर्योग्यताओं के शिकार थे। प्राचीन साहित्य में अस्पृश्यों की श्रेणी के लिए 'अंतयज' 'पंचम' एवं 'चंडाल' इत्यादि शब्दों का उल्लेख किया गया है। इस श्रेणी के लिए महात्मा गाँधी ने 'हरिजन' (भगवान की संतान) शब्द को प्रचलित किया। 'शोषित वर्ग' एवं 'बाह्य जातियाँ' जैसी अवधारणाओं के रूप में शूद्रों को 1903 ई. के पूर्व अभिव्यक्त किया जाता था परन्तु 1935 ई. के भारत सरकार के अधिनियम के उपरान्त कथित अस्पृश्य जातियों को 'अनुसूचित जाति' के रूप में एक पृथक अनुसूची में सम्मिलित कर दिया गया। यह प्रक्रिया भारतीय संविधान, 1950 के अंतर्गत भी जारी रही। अनुसूचित जातियों की इस अनुसूची को भारत के राष्ट्रपति के द्वारा संशोधित किया जा सकता है।

'अस्पृश्य' अनेक जातियों का संकलन है जो विशेषताओं के संदर्भ में एक–दूसरे से भिन्न भी हो सकती हैं। इनमें से कुछ कथित अस्पृश्य जातियाँ जैसे–चमार जनसंख्या की दृष्टि से अन्य अस्पृश्य जातियों की तुलना में अधिक हैं। सारी अस्पृश्य जातियाँ भारत की कुल जनसंख्या का लगभग 15 प्रतिशत हैं। ये जातियाँ किसी निश्चित भू–भाग में केंद्रित नहीं हैं अपितु प्रत्येक प्रान्त यहाँ तक कि प्रत्येक जिले में पाई जाती हैं। इतना अवश्य है कि एक क्षेत्र में निवास करने वाली अस्पृश्य जातियों की विशेषताएँ अन्य क्षेत्र में निवास करने वाली अस्पृश्य जातियों की विशेषताओं से भिन्न हैं। अर्थात् एक क्षेत्र की हरिजन जातियाँ विशेषता की दृष्टि से दूसरे क्षेत्र की हरिजन जातियों से भिन्न हैं। विभिन्न हरिजन जातियों में हम पाल्ला, पाड़िया (तमिलनाडु), माला, माडिया (आन्ध्र प्रदेश), महार (महाराष्ट्र),

चमार, भंगी (उत्तर प्रदेश, पंजाब एवं बिहार), चेरूमान, पुलायन (केरल), होलिया (मैसूर) एवं बागड़ी (पश्चिम बंगाल) की चर्चा कर सकते हैं। अधिकांशतः अस्पृश्य जातियाँ ग्रामीण क्षेत्रों में केन्द्रित हैं। अस्पृश्य जातियों की जनसंख्या का केवल 10. 7 प्रतिशत नगरीय केंन्द्रों में निवास करता है।

23.4 अस्पृश्यता एवं सांस्कृतिक पृथक्करण

एक समय ऐसा भी था जब अस्पृश्य एवं शेष हिन्दू जनसंख्या के मध्य के विभेद को स्पष्टतया प्रजातीय आधार पर व्यक्त किया जाता था अर्थात् प्रजातीय विभेद अस्पृश्य एवं शेष हिन्दू जनसंख्या के विभेद के आधार के रूप में स्वीकार्य था। परन्तु मानवशास्त्रीय अध्ययन यह सिद्ध करते हैं कि प्रजाति के आधार पर जातीय विभेद युक्तिसंगत नहीं हैं। तथ्य तो यह है कि अस्पृश्य एवं शेष हिन्दू जनसंख्या के मध्य के ये जाति विभेद सांस्कृतिक, धार्मिक, मूल्य सम्बन्धी तत्व एवं भौतिक असमानताओं पर आधारित हैं।

जैसा कि पूर्व में ही बताया जा चुका है, जाति व्यवस्था ने परम्परागत हिन्दू समाज को संगठनात्मक आधार प्रदान किया। अनेक समकालीन परिवर्तनों के बावजूद वर्तमान भारत में जाति व्यवस्था अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिकाओं का निर्वाह करती है। प्रत्येक जाति अथवा उप–जाति एक अथवा अधिक परम्परागत व्यवसायों से सम्बद्ध है तथा अन्य जातियों अथवा उप–जातियों से विस्तृत श्रम विभाजन के आधार पर सम्बद्ध है। प्रत्येक जाति की एक विशिष्ट जीवन शैली है जिसके अन्तर्गत पोशाक, भोजन, संस्कार इत्यादि के विशिष्ट रूप पाए जाते हैं। परम्परागत हिन्दू समाज में ऐसे वैधानिक व संस्कारगत् प्रतिमान पाए जाते थे जिनके कारण निम्न जातियाँ उच्च जातियों की जीवन शैली का अनुकरण नहीं कर सकती थीं।

ब्राह्मण एवं अस्पृश्य जातियों के मध्य जीवन शैली स्पष्ट एवं चरम रूप में विभाजित थी। ठीक इसी प्रकार उच्च जातियों की जीवन शैली का अनुकरण करने के विरोध में बने प्रतिबन्ध मूलतः अस्पृश्यों के विरूद्ध ही थीं। तथा उन्हें दबावपूर्ण माध्यमों से अस्पृश्यों पर लागू किया जाता था। आन्द्रें बेतें के अनुसार दक्षिण भारत में हाल के वर्षों तक हरिजन का पक्के, ईटों व टाइल्स के बने मकानों में रहना प्रतिबन्धित था। वे ऊपरी शरीर में वस्त्र धारण नहीं कर सकते थे तथा रेशमी वस्त्र पहन नहीं सकते थे। इस प्रकार के नियमों की कठोर प्रकृति उत्तर भारत में उतनी स्वीकार्य नहीं है जितनी कि दक्षिण भारत में है। साथ ही दक्षिण भारत की भाँति इन्हें उत्तर भारत में कठोरतापूर्वक लागू नहीं किया जाता है।

अस्पृश्यों की सामाजिक पहचान इस तथ्य से भी स्थापित होती है कि उन्हें मुख्य ग्रामीण क्षेत्र से दूर रहने की स्वीकृति प्राप्त है। अस्पृश्यों के आवासीय क्षेत्र मुख्य गाँव से बहुत दूर होते हैं अथवा गाँव की सीमा के बाहर होते हैं। बेतें के अनुसार इस प्रकार का पृथक्करण दक्षिण भारत में उत्तर भारत की तुलना में, अधिक प्रचलित है। तमिलनाडु में हरिजनों के आवासीय स्थलों को 'चेरी' कहा जाता है। ये आवासीय स्थल मुख्य गाँव के आवासीय स्थलों से लगभग 'एक मील' अथवा 'आधा मील' की दूरी पर स्थित हैं। हरिजन जाति सामान्तया खेती कर रही जातियों से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से दूरी बनाए रखती है। हरिजन सामान्यतया धान के खेतों में निवास करते हैं जो मुख्य गाँव से दूर हैं। 'चेरी' को सांस्कारिक व धार्मिक दृष्टि से अपवित्र माना जाता है। अतः कोई भी परम्परानिष्ठ ब्राह्मण वहाँ प्रवेश नहीं करेगा। आवासीय आधार पर इस प्रकार का कठोर पृथक्करण नगरीय, केन्द्रों में नहीं पाया जाता यद्यपि आवासीय पृथक्करण नगरीय यथार्थ का भी भाग

है। नगरों में भी हरिजन एक ही स्थान पर सहयोग की भावना के साथ निवास करते हैं।

परम्परागत रूप में अस्पृश्य शारीरिक श्रम से सम्बद्ध क्रियाओं में संलग्न होते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में वे आज भी शारीरिक श्रम करने वाली कार्यशील जनसंख्या के बहुमत को निर्मित करते हैं। हरिजन श्रमिकों के विभिन्न भाग अनेक प्रकार के विशिष्ट परम्परागत कार्यों से सम्बद्ध हैं। सफाई करना, चमड़े का कार्य (चमड़ा उतारना, चमड़े को समतल बनाना), डोलची बनाना इत्यादि हरिजनों के परम्परागत कार्य हैं। लोकप्रिय रूप में ये शारीरिक श्रम सम्बन्धी कृत्य हरिजनों के वंशानुगत पेशे हैं। अधिकांश जनता की मानसिकता में अस्पृश्य एवं अस्पृश्यता के प्रति विषयपरक तथा पूर्वाग्रह सम्बन्धी विचार शारीरिक श्रम की प्रकृति का ही परिणाम हैं। ऐसे अनेक महत्वपूर्ण अनुसंधान भी हैं जिसमें अस्पृश्यों की धार्मिक–सांस्कारिक दृष्टि से अपवित्र प्रस्थिति हेतु परम्परागत रूप से शारीरिक श्रम को, जो अपवित्र है, उत्तरदायी माना है अर्थात् अपवित्र प्रस्थिति का अपवित्र शारीरिक श्रम से सम्बद्ध है। फ्रांसीसी समाजशास्त्री लुई ड्यूमाँ ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'होमो हायरारकिकस' में इन सम्बन्धों पर व्यापक रूप से प्रकाश डाला है।

व्यवसाय के अतिरिक्त अस्पृश्यों की जीवन शैली में कुछ ऐसे अन्य तत्व भी हैं जो कि हिन्दू सांस्कृतिक मूल्य व्यवस्था में अपवित्र माने जाते हैं। इसमें से एक महत्वपूर्ण तत्व भोजन है। संस्कारगत हिन्दूवाद में भोजन एवं पीने से सम्बद्ध अनेक वस्तुओं को पवित्र एवं अपवित्र (शुद्ध एवं अशुद्ध) की श्रेणी में विभाजित किया गया है। जाति की प्रस्थिति का घनिष्ठ सम्बन्ध उस जाति के सदस्यों की भोजन सम्बन्धी आदतों से हैं। सामान्यतया सामिष भोजन को निम्न क्रम प्रदान किया जाता है। अस्पृश्य न केवल सामिष भोजन करते हैं अपितु एक विशेष प्रकार का गोश्त (मांस) भी खाते हैं जिसे कि स्वच्छ नहीं माना जाता है। अस्पृश्य जातियों के वे समूह जो गोमांस का सेवन करते हैं, क्रम विन्यास में सबसे निम्न स्थानों पर हैं। इसका स्पष्ट कारण यह है कि गो–वध हिन्दू धर्म में निषिद्ध है। गो–मांस के सेवन का अभिप्राय घिनौनी वस्तु का सेवन है। यदि कोई हरिजन जाति गो–मांस का सेवन करना त्याग भी देती है तो वह परम्परागत कलंक से मुक्त हो जाएगी ऐसा नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः परम्परागत कलंक से पूर्ण मुक्ति प्रायः सम्भव नहीं है। अस्पृश्य जातियों के धार्मिक व्यवहार उच्च जाति हिन्दुओं से महत्वपूर्ण रूप में भिन्न हैं। अस्पृश्यों की धार्मिक व्यवस्था में संस्कारगत पक्षों का कम समावेश है क्योंकि पारम्परिक रूप में अस्पृश्य जातियों को हिन्दू मंदिरों में प्रवेश का अधिकार नहीं था। साथ ही ब्राह्मण पुरोहितों की सेवाएँ अस्पृश्य जातियों को प्राप्त नहीं होती थीं। परिणामस्वरूप हरिजन जातियों के मंदिरों में स्थानीय देवताओं एवं नरक दूतों की मूर्तियाँ अधिक हैं जहाँ पशु बलि स्वीाकार्य है और गैर–सांस्कारिक कृत्य सम्पन्न किए जाते हैं। अस्पृश्यता के ये वे सांस्कृतिक पक्ष हैं जो उच्च जातियों के साथ सांस्कृतिक पृथक्करण उत्पन्न करते हैं। अब हम उन व्यवहारों की चर्चा करेंगे जिन्हें प्रयास के रूप में स्वीकार कर अस्पृश्यता की समाप्ति के संगठित प्रयत्न किए जा रहे हैं।

अस्पृश्यता की समाप्ति : मूल्यांकन

अस्पृश्य जातियों को समाज की मुख्य धारा में लाने के समस्त सरकारी प्रयासों एवं कार्यक्रमों के बावजूद हरिजन वर्तमान में भी आर्थिक एवं शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। हरिजन जनसंख्या का एक बड़ा भाग (35 प्रतिशत) कृषि श्रमिक से सम्बद्ध है। यदि कुछ हरिजनों के पास भूमि स्वामित्व है तो वह उतनी कम है कि उनकी स्थिति किसी भी रूप में 'कृषि श्रमिकों' से अच्छी नहीं है। नीति निर्माता,

नियोजक एवं सामाजिक कार्यकर्ता इस तथ्य के प्रति चेतनशील हैं कि भारत में वैधानिक क्रियाओं एवं प्रशासनिक कृत्यों के द्वारा अनुसूचित जातियों की 'जीवन स्थितियों' में गुणात्मक सुधार उत्पन्न नहीं किए जा सके हैं। संवैधानिक अधिकार एवं अन्य अधिकार तब तक अर्थपूर्ण नहीं हैं जब तक कि अस्पृश्य जातियाँ निर्धन, अशिक्षित एवं असंगठित हैं तथा पृथक्करण के विभिन्न पक्षों की शिकार हैं। सरकार की आरक्षण की नीति के बावजूद हठधर्मी सामाजिक शक्तियों ने अस्पृश्य जातियों के विकास में अवरोध उत्पन्न किए हैं। ये हठधर्मी सामाजिक शक्तियाँ देश की आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं पर प्रभावी नियंत्रण बनाए हुए हैं। इसके अतिरिक्त दमन एवं शोषण की एक लम्बी परम्परा के कारण यह अत्यन्त कठिन है कि अस्पृश्य अल्पकालिक अवधि में उतना विश्वास उत्पन्न कर लें जिसके आधार पर सरकारी कार्यक्रमों के प्रति उनकी प्रतिक्रिया सकारात्मक बन जाए।

23.5 अस्पृश्यता के विरूद्ध सामाजिक सुधार आन्दोलन

अस्पृश्यता के निवारण हेतु सामाजिक सुधार आन्दोलनों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–

1) सुधारात्मक आन्दोलन

2) वैकल्पिक आन्दोलन

1. सुधारात्मक आन्दोलन

अस्पृश्यता की समस्या के समाधान हेतु जाति व्यवस्था सुधारो से सम्बद्ध हैं। वैकल्पिक आन्दोलन वैकल्पिक सामाजिक–सास्कृतिक संरचना को उत्पन्न करने के प्रयास हैं जो धर्मान्तरण अथवा शिक्षा प्राप्ति के द्वारा अस्तित्व में आते हैं। आर्थिक प्रस्थिति में ऊर्ध्वाधर गतिशीलता तथा राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति के प्रयास भी वैकल्पिक आन्दोलनों के भाग हैं। दोनों ही प्रकार के आन्दोलन अपने उद्‌देश्यों की प्राप्ति हेतु राजनीतिक साधनों को प्रयुक्त करते हैं।

सुधारात्मक आन्दोलनों को निम्नलिखित प्रकारों में पुनः वर्गीकृत किया जा सकता है–

1) संस्कृतिकरण

2) भक्ति आन्दोलन

3) नव–वेदान्तिक आन्दोलन

1. **संस्कृतिकरण,** सुधारात्मक आन्दोलन का अनिवार्य अंग है। इन प्रक्रिया में संस्तरणात्मक जाति संरचना में उच्च प्रस्थितियाँ प्राप्त जातियों के प्रतिमान एवं मूल्यों का अनुकरण किया जाता है। इस अनुकरणात्मक आन्दोलन के मूल में यह तर्क विद्यमान है कि यदि अस्पृश्य उच्च जातियों के प्रतिमानों एवं मूल्यों का अनुकरण करते हैं तो उनकी प्रस्थिति में गुणात्मक सुधार सम्भव है अर्थात् उनकी प्रस्थिति वर्तमान प्रस्थिति की तुलना में उच्च हो सकती है। अतः परिवर्तन के प्रेरक तत्व के रूप में प्रस्थिति गतिशीलता की चर्चा हो सकती है। इन आन्दोलनों ने अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों को प्रेरित किया कि वे मदिरा एवं सामिष भोजन का त्याग करें तथा मूर्ति

पूजा आदि को छोड़े। इनमें से कुछ आन्दोलनों का उद्देश्य उन नवीन मिथकों एवं प्रतीकों को जन्म देना था जिनसे अस्तित्व की श्रेष्ठता को स्थापित किया जा सके। सामाजिक गतिशीलता की इस प्रणाली में दो प्रमुख अवरोध थे। प्रथम तो यह कि उच्च संस्तरणों के लोग इन निम्न संस्तरणों के लोगों को अपने प्रतिमानों एवं मूल्यों का अनुकरण करने की आज्ञा प्रदान करें अथवा अनुकरण करने वाले इन संस्तरणों के प्रति सहनशील दृष्टिकोण अपनाए। द्वितीय, ये कि अस्पृश्य मनोवैज्ञानिक रूप से इस रूपान्तरण के लिए स्वयं को तैयार करें एवं व्यवहार परिवर्तन के लिए यदि उन्हें उच्च संस्तरणों को लोगों द्वारा दण्डित किया जाए तो उसे सहन करें। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में उपयुक्त काल्पनिक कथाओं की खोज द्वारा निम्न जातियों के उच्च सामाजिक प्रस्थिति के दावे को तार्किकता एवं युक्ति संगतता प्रदान करने का प्रयास होता है ताकि जाति संस्तरण में वे उच्च पद प्राप्त कर सकें। इस प्रक्रिया के माध्यम से सभी अस्पृश्य जातियाँ उन नागरिक निर्योग्यताओं को समाप्त करने में सफल नहीं हो सकीं जो कि उन पर परम्पराओं के माध्यम से बलात रूप से लादी गई थीं। संस्तरणात्मक प्रकृति से सम्बद्ध जाति व्यवस्था का लाभ उठाकर उच्च जातियों ने ऐसे अनेक अवरोध उत्पन्न किए जिनके कारण ये अनुसूचित जातियाँ संस्कृतिकरण के प्रयासों में सफल नहीं हो सकीं। संस्कृतिकरण की प्रक्रिया ने समूह गतिशीलता को उत्पन्न किया एवं उन विखण्डनों एवं संयोजनों को जन्म दिया जो नवीन अस्मिताओं पर आधारित थे। अतः नवीन जातियाँ एवं पंथ अस्तित्व में आए। संस्कृतिकरण से उत्पन्न ये परिवर्तन सुधारवादी प्रकृति के थे अर्थात् इनकी प्रकृति संरचनात्मक नहीं थी। अन्य सुधारवादी आन्दोलन जैसे–भक्ति आन्दोलन एवं नव–वेदान्तिक आन्दोलन केवल अनुसूचित जातियों तक ही केन्द्रित नहीं थे। इन आन्दोलनों का नेतृत्व हिन्दू धार्मिक नेताओं एवं समाज–सुधारकों ने किया। इन आन्दोलनों के अन्तर्गत अस्पृश्यों को जाति व्यवस्था के अन्तर्गत सम्मिलित कर अस्पृश्यता की समाप्ति के प्रयास किए गए। इन आन्दोलनों के नेतृत्वकारियों का मत था कि अस्पृश्यता हिन्दू समाज–व्यवस्था का आवश्यक अंग नहीं है अतः अस्पृश्यता को जाति व्यवस्था का भी आवश्यक अंग नहीं माना जा सकता। एक महत्वपूर्ण उल्लेख इस संदर्भ में यह है कि सभी सुधारवादियों ने, जो इन आन्दोलनों से सम्बद्ध थे, जाति व्यवस्था को चुनौती नहीं दी। इन्होंने तो जाति व्यवस्था को अधिक मानवीय बनाने का प्रयास किया अस्पृश्यता को पाप के रूप में स्वीकार किया गया परन्तु जाति व्यवस्था की वैधता पर कोई प्रश्न उन्होंने नहीं उठाया।

2. वैकल्पिक आन्दोलन

वैकल्पिक आन्दोलनों को भी दो भागों में बाँटा जा सकता है जिन्हें धर्मान्तरण आन्दोलन तथा धर्मनिरपेक्ष आन्दोलन की संज्ञा दी जा सकती है।

1) धर्मान्तरण आन्दोलन का उद्देश्य प्रति संस्कृति को उत्पन्न करना तथा धर्म परिवर्तित करने वाली इकाइयों की सामाजिक तथा आर्थिक

स्थितियों में सुधार करना था। संस्कृतिकरण की भाँति धर्मान्तरण भी सामान्यतया समूह प्रघटना था तथा धर्म परिवर्तित करने वाली इकाइयाँ जाति की विशेषताओं को अपनाए रखीं। अनुसूचित जातियों द्वारा दूसरे धर्म को अपनाने की प्रक्रिया देश के कुछ भागों के अतिरिक्त अनुपात की दृष्टि से नगण्य रही। आरक्षण की नीति के अन्तर्गत अनुसूचित जाति की सांविधिक प्रस्थिति उनके सामाजिक–आर्थिक विकास एवं राजनीतिक प्रतिनिधित्व का महत्वपूर्ण कारण है। इस प्रक्रिया के अथवा स्थिति के फलस्वरूप गैर–हिन्दू विश्वास व्यवस्थाओं को अंगीकार करने की घटनाओं में कमी आई है। परन्तु इसका अभिप्राय धर्मान्तरण की प्रक्रिया को नकारना नहीं है। अस्पृश्यता की स्थिति से उत्पन्न शोषण के कारण अनेक अनुसूचित जाति अथवा अस्पृश्यों के परिवारों ने हिन्दू धर्म का परित्याग कर बौद्ध धर्म को अंगीकार किया। पचास के दशक के प्रारम्भ में बी.आर. अम्बेडकर का यह मत था कि अस्पृश्यों के लिए सर्वाधिक उपयुक्त वैकल्पिक धर्म बौद्ध धर्म है। अम्बेडकर के इस दृष्टिकोण से प्रभावित होकर महाराष्ट्र की अस्पृश्य जाति महार के हजारों सदस्यों ने सामूहिक धर्मांतरण कर हिन्दू धर्म के स्थान पर बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया। डॉ. बी.आर. अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म को इसलिए प्राथमिकता दी क्योंकि यह भारतीय धर्म है जो समानता पर बल देता है साथ ही यह धर्म जाति–विरोधी एवं ब्राह्मण विरोधी भी था। इसके पूर्व अम्बेडकर ने अनेक अस्पृश्यों को हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत ही सुधारने के अथवा उनकी प्रस्थिति को उच्च करने के प्रयास किए। उनके इस प्रयास का अनेक लोगों ने विरोध किया। इस विरोध के परिणामस्वरूप डॉ. अम्बेडकर इतने अधिक उत्तेजित एवं परेशान हुए कि उन्होंने हिन्दू धर्म को अस्वीकृत कर दिया और एक मानवीय विकल्प को अंगीकार कर लिया।

2) धर्मनिरपेक्ष आन्दोलन का अभिप्राय अस्पृश्यों के उन प्रयासों से है जिनके अन्तर्गत शिक्षा प्राप्त कर जीवन को सुधारा जाता है तथा राजनीतिक संरचना में सहभागिता प्राप्त की जाती है। इन प्रयासों के द्वारा अस्पृश्य अपनी प्रस्थिति को उच्च बनाते हैं।

इस सन्दर्भ में हम एक बार पुनः डॉ. अम्बेडकर के योगदान की चर्चा कर सकते हैं। आप सम्भवतः जानते ही हैं कि अम्बेडकर उन प्रथम अस्पृश्यों में से एक थे जिन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। अम्बेडकर ने अमेरिका एवं इंग्लैण्ड से एम.ए. एवं पीएच.डी. की उपाधियाँ प्राप्त की तथा बैरिस्टर–एट–लॉ बने। उन्होंने अस्पृश्यों के सम्मुख यह एक उदाहरण प्रस्तुत किया कि वे शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं तथा अपने जीवन स्तर को उच्च बना सकते हैं। अस्पृश्यों में डॉ. अम्बेडकर के अनेक अनुयायी बन गए। डॉ. अम्बेडकर ने अस्पृश्यों को सुझाव दिया कि वे गन्दी समझी जाने वाली अनेक आदतों जैसे–माँस खाना इत्यादि का परित्याग कर दें। कुछ समय के बाद अनेक अस्पृश्यों ने अपनी प्रस्थिति में गुणात्मक सुधार किया और जीवन के धर्मनिरपेक्ष पक्षों को स्वीकार किया। वे राजनीतिक दृष्टि से चेतनशील भी हुए तथा नागरिकों के रूप में उन्होंने अधिकारों की माँग करना प्रारम्भ किया।

राज्य से सम्बद्ध क्रिया

इसके अन्तर्गत उन वैधानिक एवं प्रशासनिक प्रावधानों को सम्मिलित किया जाता है जो अनुसूचित जातियों/अस्पृश्यों की प्रस्थिति के सुधार से सम्बद्ध हैं। भारत का संविधान ऐसे अनेक संरक्षण सम्बन्धी प्रावधानों को स्पष्ट करता है जो अनुसूचित जातियों के कल्याण से सम्बन्धित हैं। राज्य द्वारा प्रदत्त इन प्रावधानों में से निम्नलिखित महत्वपूर्ण हैं–

1) संसद एवं राज्य के विधान मण्डलों में प्रतिनिधित्व
2) केन्द्रीय एवं राजकीय (प्रान्तीय) सेवाओं में प्रतिनिधि
3) सामाजिक, शैक्षणिक एवं आर्थिक विकास के लिए विशेष प्रावधान
4) मनुष्य के मध्य अवैध आदान–प्रदान एवं बलात् श्रम पर प्रतिबन्ध
5) अस्पृश्यता के व्यवहार की समाप्ति
6) अनुसूचित जातियों एवं जनजातीय क्षेत्रों का विकास,
7) अनुसूचित जातियों के हितों एवं संरक्षण सम्बन्धी समस्त पक्षों की जाँच हेतु विशेष अधिकारी की नियुक्ति इत्यादि।

विधान मंडलों में आरक्षण

राज्य की कार्यवाही का एक महत्वपूर्ण पक्ष विधान मंडलों में आरक्षण से सम्बन्धित है। जनसंख्या की विभिन्न श्रेणियों के असमान विकास एवं राजनीति की प्रतियोगी प्रकृति के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि पिछड़े एवं निर्बल भागों को अथवा श्रेणियों को आरक्षण के विशेष प्रावधान प्रदान किए जाएँ। जनसंख्या के इन निर्बल भागों को अथवा श्रेणियों को आरक्षण के विशेष प्रावधान प्रदान किए जाएँ। जनसंख्या के इस निर्बल भाग को संसद में स्थान के रूप में आरक्षण प्रदान किया गया है।

पंचायती राज (स्थानीय स्व–सरकार) संस्थाओं की स्थापना के उपरान्त स्थानीय स्तर के प्रत्येक निकाय में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए स्थान आरक्षित किए गए हैं। ग्राम पंचायत, पंचायत समिति इत्यादि स्थानीय स्तर के वे निकाय हैं जिनमें आरक्षण के प्रावधान हैं। यद्यपि यह कहना कठिन है कि ये संस्थाएँ कितनी प्रभावशाली सिद्ध हुई हैं और क्या इन संस्थाओं में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों को नीति–निर्धारण की प्रक्रिया में सहभागिता प्राप्त हुई है अथवा नहीं। एक ऐसी व्यवस्था में, जिसमें धन एवं प्रस्थिति में असमानता हो, संविधान में उल्लिखित प्रावधानों से शक्ति वितरण की प्रक्रिया में अपेक्षित प्रभाव पड़ना संदेहास्पद ही है। परन्तु निश्चय ही यह महत्वपूर्ण प्रारम्भ है।

राजनीतिक क्रिया

अनुसूचित जातियों में परिवर्तन का एक अन्य महत्वपूर्ण स्रोत राजनीतिक क्रियाएँ हैं। ये राजनीतिक क्रियाएँ गतिशीलता की प्रक्रिया के माध्यम से राजनीतिक दलों द्वारा प्रारम्भ की गई हैं। भारत में बहुदलीय व्यवस्था है और इस आधार पर यह अपेक्षा करना युक्तिसंगत है कि अनुसूचित जातियों के कुछ सदस्य राजनीतिज्ञों के रूप में विभिन्न राजनीतिक दलों में प्रवेश करें। ऐसे अनेक दल हैं जो केवल अनुसूचित जातियों इत्यादि से सम्बद्ध हैं। अम्बेडकर के स्वतंत्र श्रमिक दल (इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी) एवं अनुसूचित जाति संघ (शिड्यूलकास्ट फैडरेशन) की

स्थापना की। क्षेत्रीय स्तर पर भी अनेक जनुसूचित जातियों के संघ अथवा संगठन विद्यमान हैं। अम्बेडकर द्वारा निर्मित ऑल इंडिया शिड्यूल कास्ट फैडरेशन (अखिल भारतीय अनुसूचित जाति संघ 1957) बाद में 'रिपब्लिकन पार्टी' के रूप में उभर कर आई। यह दल भारतीय संविधान के मूल तत्वों एवं आदर्शों को स्वीकार करता है तथा अपने उद्देश्यों को संसदीय लोकतंत्र के माध्यम से प्राप्त करने का इच्छुक है। रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इंडिया (आर.पी.आई.) के अतिरिक्त एक अन्य दल 'दलित पेंथर' है। अनुसूचित जाति के रेडिकल (आमूल चूल परिवर्तन के समर्थक) सदस्यों तथा अनुसूचित जाति के लेखकों ने एक साक्षरता आन्दोलन भी चलाया जिसके माध्यम से महाराष्ट्र में इन समूहों की जीवन एवं स्थितियों में हो रहे परिवर्तन को प्रस्तुत किया गया। दलित पेंथर्स ने यह स्वीकार किया कि हिन्दू धर्म से अन्य धर्म में रूपान्तरण अथवा हिन्दूवाद से स्वैच्छिक विच्छेदन जाति बाहुल्य या जाति निर्देशित समाज में अस्पृश्यों की प्रस्थिति के सुधार में आवश्यक नहीं कि सहायक हो। उन्होंने लगातार अम्बेडकर के प्रयासों से प्रेरणा ली। यद्यपि इस दल की विचारधारा का एक भाग मार्क्सवाद पर आधारित था जिसने इनके चिंतन को व्यापक बनाया। दलितों द्वारा जिन समस्याओं का सामना किया जा रहा है उनमें मूल आर्थिक आवश्यकताएँ, सामाजिक भेदभाव, राजनीतिक शोषण एवं शारीरिक उत्पीड़न/अत्याचार सम्मिलित हैं। इन समस्याओं की ऐतिहासिकता भारतीय सामाजिक संरचना में अंतर्निहित है।

23.6 सारांश

इस इकाई के अन्तर्गत हमने अस्पृश्यता की अवधारणा, उससे उत्पन्न पृथक्करण, समाज में सामाजिक व्यवस्था को किस प्रकार प्रभावित करता है कि विशद् ज्ञान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। राजनीतिक हित किस प्रकार विविध प्रक्रियाओं की सहायता से पृथक्करण को बढ़ावा दे रहे है, का भी विश्लेषण किया गया है। अतः इस प्रकार हम सभी अस्पृश्यता के साथ–साथ पृथकता को भी आसानी से समझ सकेंगे।

23.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. डॉ. बी.आर. अम्बेडकर ने हजारों महान अनुयायियों के साथ जिस धर्म को अंगीकार किया–

   क. जैन   ख. इसाई

   ग. बौद्ध   घ. मुस्लिम

2. भारतीय संविधान में अस्पृश्यता को समाप्त करता है–

   क. अनुच्छेद–14   ख. अनुच्छेद–15

   ग. अनुच्छेद–17   घ. अनुच्छेद–21

3. 'द अनटचेबिल्स' पुस्तक के लेखक हैं–

   क. टी0 के0 ओमन   ख. बी.आर. अम्बेडकर

   ग. गाँधी   घ. नायकर

4. एम. एन. श्रीनिवास के अनुसार हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में हरिजनों को कौन सी श्रेणी के रूप में स्वीकार किया गया है?

   क. तीसरी   ख. चौथी

   ग. पाँचवीं   घ. इनमें से कोई नहीं

23.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1. ग
2. ग
3. ख
4. ग

23.9 संदर्भ–ग्रन्थ :

- कोठारी, रजनी, 1970, कास्ट इन इण्डियन पालिटिक्स, आरियन्ट लॉगमैन, नई दिल्ली।
- बेली, एफ.जी., 1957, कास्ट एण्ड वी इकॉनामिक फ्रंटियर, द यूनिवर्सिटी प्रेस, मैनचेस्टर।
- श्रीनिवास, एम.एन., चेंज इन माडर्न इण्डिया एण्ड अदर एशेज।

DCESY-104

सामाजिक स्तरीकरण

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

खण्ड –6

भारतीय वर्ग संरचना

इकाई – 24 **69–76**

कृषक वर्ग संरचना–भूस्वामी, पट्टेदार और श्रमिक

इकाई – 25 **77–82**

कृषक वर्ग संरचना और परिवर्तन

इकाई – 26 **83–92**

नगरीय वर्ग संरचना-I श्रमिक वर्ग

इकाई – 27 **93–102**

नगरीय वर्ग संरचना-II मध्यम वर्ग

इकाई – 28 **103–108**

नगरीय वर्ग संरचना-II श्रमिक वर्ग

इकाई – 29 **109–116**

अभिजन और शक्ति की असमानता

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

परामर्श समिति

प्रो0 के0 एन0 सिंह (अध्यक्ष) — कुलपति, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

डॉ० ए० के० गुप्ता — कुलसचिव, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सम्पादक

प्रो0 संजय सिंह (अध्यक्ष) — समाजशास्त्रए डॉ० राम मनोहर लोहिया राष्ट्रीय विधि, विश्वविद्यालय, लखनऊ

पाठ्यक्रम निर्माण समिति (अध्ययन बोर्ड)

1. डॉ० एम० एन० सिंह — पूर्व निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
2. डॉ० इति तिवारी — पूर्व एसो० प्रोफेसर समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
3. श्री रमेश चन्द्र यादव — शैक्षणिक परामर्शदाता, समाजशास्त्र, समाज विज्ञान विद्यशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

DCESY-104 – समाजिक स्तरीकरण

लेखक–

1. डॉ० इति तिवारी — पूर्व एसो० प्रोफेसर समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
2. श्री रमेश चन्द्र यादव — शैक्षणिक परामर्शदाता, समाजशास्त्र, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
3. डॉ० शैलजा सिंह एसो० — प्रोफेसर, डॉ० शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ
4. डॉ० विजय कुमार वर्मा — असि० प्रोफेसर, डॉ० शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ
5. डॉ० विलोक सिंह — असि० प्रोफेसर, स्वामी सहजानन्द पी०जी० कालेज, गाजीपुर (उ०प्र०)
6. श्री अजय कुमार त्रिपाठी — जे० एन० पी०जी० कालेज, लखनऊ
7. डॉ० जया द्विवेदी तिवारी — अवध गर्ल्स डिग्री कालेज, लखनऊ
8. डॉ० श्वेता तिवारी ए०पी० — सेन गर्ल्स मेमोरियल पी०जी० कालेज, लखनऊ
9. डॉ० मपीन्द्र कुमार तिवारी — डी०ए०वी० कालेज, लखनऊ

2020 (मुद्रित)

© उ0प्र0 प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज 2022

ISBN- 978-93-83328-41-3

सर्वाधिक सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।
उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठयसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।
नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आमड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज
प्रकाशक – कुलसचिव, प्रो0 पी0 पी0 दुबे, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज – 211021
मुद्रक – के0सी0प्रिटिंग एण्ड एलाइड वर्क्स, पंचवटी, मथुरा– 281003.

इकाई–24

कृषक वर्ग संरचना–भूस्वामी, पट्टेदार और श्रमिक

इकाई की रूपरेखा

24.1 उद्देश्य

24.2 प्रस्तावना

24.3 कृषक की अवधारणा

24.4 भारत में कृषक समाज की अवधारणा

24.5 भारत में खेतिहर समाज की अवधारणा

24.6 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

24.7 उत्तर

24.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

24.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

1. कृषक समाज की अवधारणा से परिचित हो जायेंगे।
2. भारत में कृषक समाज की अवधारणा से आपका परिचय होगा।
3. कृषक वर्ग संरचना से आपका परिचय होगा।

24.2 प्रस्तावना

एरिक वोल्फ ने अपनी पुस्तक "Peasant" में परिभाषा दी है कि कृषक मानव समाज का वह बड़ा भाग है जो प्राचीन जनजाति तथा औद्योगिक समाज के बीच रहता है। कृषक को मुख्यतः किसान की श्रेणी में रखा जाता है जो अपनी उपज के अतिरिक्त भाग को बाजार में बेचते हैं। इनकी मुख्य विशेषतायें हैं :–

1. कृषक समाज एक ऐसा समाज है जहाँ कृषि होती है।
2. उत्पादन छोटे स्तर पर होता है। रेमण्ड फर्थ के अनुसार कई कृषक जलवायु चक्र के अनुसार तथा अपनी आवश्यकतानुसार दस्तकारी का व्यवसाय करते है। रेडफील्ड कृषक शब्द को कृषि कार्य करने वाले लोगों तक सीमित रखने के पक्ष में हैं।
3. आर्थिक तथा सामाजिक सम्बन्धों के मामले में कृषक समाज पूरी तरह से अलग नहीं है अपितु वृहद समाज से जुड़े रहते हैं। अपनी आवश्यकतानसुार भोजन का उत्पादन करते हैं अपनी ज्यादातर जरूरतों

को पूरा करते हैं परन्तु वह स्वतंत्र नहीं है। ये लोग अतिरिक्त उत्पादन को बाजार में बेच देते हैं। यह स्वयं अर्ध पर्याप्त (Semi self sufficient) समूह है।

4. कृषक समाज में स्त्रियों का स्तर अच्छा नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि औरतें मुख्यतः घरेलू काय करती हैं। पैसा न कमाने के कारण समाज में उनके काम में महत्व का समझा जाता है।

24.3 कृषक की अवधारणा

कृषक समाज के अध्ययन का शुरू से ही मुख्य उद्देश्य उनकी जीवनशैली, आर्थिक आधार तथा उनकी सामाजिक–सांस्कृतिक व्यवस्थाओं का अध्ययन करना था। रेडफील्ड के टेपोप्जलान, मैक्सिको के अध्ययन के बाद यह प्रत्यय कई बार बदला तथा इसने नई सैद्धान्तिक बहस को जन्म दिया। रेडफील्ड ने अपने अध्ययनों में अपने प्रयोज्यों को कृषक नहीं अपितु जनजाति (Tribal) माना। रेडफील्ड ने अपने जनजाति–सभ्य (Primitive-Civilzed) सातत्य में उनको स्थान दिया तथा इस तथ्य को कोई महत्व नहीं दिया कि इनका राज्य से तथा पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था से क्या सम्बन्ध है।

रेडफील्ड के छात्र, साल्टैक्स (Sol Tax) ने रेडफील्ड की इस समझ को बदलने की कोशिश की तथा बताया कि ये लोग जनजाति (tribal) नहीं हैं अपितु किसान हैं तथा राज्य के सदस्य हैं। साल्टैक्स ने इस तथ्य पर जोर दिया कि उत्पादन का स्तर व्यक्तिगत न होकर सामूहिक है। इस विचार ने कई अन्य विद्वानों का ध्यान कृषक समाज की ओर आकर्षित किया।

कृषक समाज द्वितीय विश्व युद्ध के बाद समाज वैज्ञानिकों के अध्ययन केन्द्र में आया। जब समाज विज्ञानियों ने यह समझना शुरू किया कि सभी लोग राज्य के अंग हैं तथा एक विश्वव्यापी आर्थिक व्यवस्था से जुड़े हैं। शुरूआती दौर में कृषक के ऊपर जो भी शोध हुआ वह मार्क्सवादी सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य से प्रभावित रहा, जैसे लेनिन तथा सायानोव का अध्ययन। इनके समर्थकों के लिए कृषक हमेशा से ही मुश्किल वाला विषय रहा है। कृषक समाज की रूढ़िवादी प्रवृत्ति तथा जीवनशैली ने यह काम मुश्किल कर दिया ि कवे किस समूह या वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। मार्क्स का यह विश्वास था कि पूँजीवाद इस जीवनशैली को नष्ट कर देगा क्योंकि यह जीवनशैली औद्योगिकरण से मेली नहीं खाती है।

ऐरिक वौल्फ ने कृषक समाज को दो भागों में विभाजित किया है–

1. खुला कृषक समाज (Open Peasant Society)
2. बन्द कृषक समाज (Closed Peasant Society)

खुला कृषक समाज (Open Peasant Society)

1. खुला कृषक समाज विश्व स्तर पर पूँजीवाद के उभार के उत्तर के तौर पर आया जहॉ पर इस समाज से यह आशा की गई कि यह अपनी उपज को बाजार में बेचेगा क्योंकि इस समाज में ही सबसे पहले बाजार का पूर्णरूप से विकास हुआ तथा अतिरिक्त उत्पादन को बाजार में विक्रय करने हेतु लाया गया।

2. खुला कृषक समाज में कृषक बाजार में उपज को खरीद बेच सकते हैं। क्योंकि अतिरिक्त उत्पादन को बाजार व्यवस्था में ही ।

3. खुला कृषक समाज में लोग जमीन के मालिक है तथा समय–समय पर पैसा उधार ले लेते है, अर्थात अर्थव्यवस्था में ऋण व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है।

4. खुला कृषक समाज बाहरी समाज से जुड़ा होता है तथा किसी भी सार्थक बदलाव को स्वीकार तथा स्वागत करता है।

बन्द कृषक समाज (Closed Peasant Society)

1. बन्द कृषक समाज में बाहरी लोगो ंका स्वागत नहीं है तथा समुदाय की सदस्यता पूर्णतः परिभाषित है।

2. बन्द कृषक समाज में लोग गरीबी में रहते हैं तथा अशिक्षित होते हैं इस कारण से वे अपनी परम्परागत जीवन शैली को बदलने में अक्षम होते हैं तथा बदलावों का स्वगत नहीं करते हैं।

3. बन्द कृषक समाज की संस्कृति इनको संचय करने तथा दिखावा करने की प्रवृत्ति से रोकती है अर्थात् जीवन शैली साधारण होती है।

एरिक वूल्फ (Eric Woolf) ने अपनी पुस्तक Peasant Wars of Twentieth Century में बीसवीं शताब्दी के क्रांतियों की चर्चा की है, जिसमें उन्होंने कृषक समाज के बारे में बताया है तथा इस बात की चर्चा की है कि किसी भी अर्थपूर्ण बदलाव के लिए कृषक क्रांति में कितनी मुश्किलें हैं।

24.4 भारत में कृषक समाज की अवधारणा

कृषक समाज के बारे में जानने के बाद अब हम भारत में कृषक समाज के बारे में चर्चा करेंगे। भारत में ग्रामीण समाज को कृषक समाज के सन्दर्भ में अगर हम समझे ंतो हमें एक समग्र कृषक समाज नहीं दिखाई पड़ता है। इसमें अनेक जटिलतायें तथा स्तरीकरण के अनेक स्वरूप देखने को मिलते हैं। आन्द्र बेते का विचार है कि परम्परागत भारतीय ग्रामीण समाज में एक ओर वृहत्त जातीय संस्तरण तथा दूसरी ओर जटिल कृषि सम्बन्धी स्तरीकरण पाया जाता है। अतः इस समाज को कृषक समाज के रूप में चित्रित करना भ्रामक है।

आन्द्रे बेते ने इसको स्पष्ट करते हुये कहा कि अधिकांश विद्वान भारतीय समाज को तीन भागों (नगरीय समाज, कृषक समाज, एवं जनजातीय समाज) में विभक्त करते हैं। कृषक तथा जनजातीय समाज ग्रामीण समाज की रचना करते है। इस प्रकार गैर जनजातीय गॉवों के समाज के लिये कृषक समाज से भिन्न कोई और संज्ञा का प्रयोग किया जाना चाहिये। इनका मानना है कि यदि कोई व्यक्ति कृषक समाज और जनजातीय समाज जैसे शब्दों से ही ग्रामीण भारत की कृषि संरचना को समझना चाहता है तो यह संभव नहीं है। आन्द्रे बेते का मत है कि भारत में बहुत से जनजातीय समाज भी कृषक समाज की विशेषताओं से युक्त हैं। यदि छोटी, शिकार तथा फलफूल एकत्रित करने वाली जनजातियॉ जो एक स्थान पर बस कर खेती भी करती हैं तथा समुदायों में संगठित हैं तो वे कृषक के समान ही होती है। आन्द्रे बेते तो यहॉ तक कहते है कि यदि भारत में कृषक

समुदायों को देखना है तो उसे प्रारम्भ करने के लिये सर्वोत्तम स्थान सन्थाल, ओरॉव, तथा मुंडा लोगों का समाज है।

आन्द्रे बेते ने अपनी कृति (एसेज इन कम्परेटिव सेशियोलॉजी) में एक कृषक की तीन विशेषताओं का उल्लेख किया है।

1. कृषक भूमि से जुड़ा होता है। वह न केवल भूमि से जुड़ा होता है अपितु उसे श्रम से फलदायक बनाता है। कानूनी रूप से वह भूमि का स्वामी, उसे किराये पर जोतने वाला या बिना भूस्वामी अधिकार का एक श्रमिक होता है। लेकिन इन सभी स्थितियों में वह अपनी अजीविका श्रम द्वारा कमाता है। कुछ लोग 'कृषक' शब्द का प्रयोग भू–स्वामी किसानों के लिये करते हैं तो कुछ अन्य इसमें किराये पर भूमि जोतेने वालों तथा भूमिहीन श्रमिकों को भी सम्मिलित करते हैं।

2. सामान्यतः ऐसा माना जाता है कि अधिकांश समाजों में कृषकों की भिन्न होती है। वे लोग जो कृषक के परिश्रमी, सरल तथा मितव्ययी होने की प्रशंसा करते हैं, यह स्वीकार करते हैं कि समाज में उनकी वास्तविक प्रतिष्ठता ऊँची नहीं होती है। साधारणतः कृषक वर्ग के लिये यह मान लिया जाता है कि यह कुलीन वर्ग का प्रयोग ऐसे समूह के लिऐ किया गया है जो भूमि से अपनी अजीविका कमाता है, लेकिन वह यह अजीविका स्वयं को श्रम सम्बन्धी कार्यों में लगाये बिना ही कमाता है। स्तरीकरण के क्रम में कृषक वर्ग की स्थिति पर न केवल आर्थिक वर्ग की दृष्टि से बल्कि सांस्कृतिक दृष्टि से भी विचार किया जाता है। यदि इस वर्ग के लोग उस भूमि के स्वामी भी होते हैं, जिसको वे जोतते हैं तो भी उसका आकार छोटा होने के कारण, आय इतनी कम होती है कि उनका परिवार अपना भरण–पोषण एवं आवश्यकताओं की पूर्ति भी कठिनता से ही कर सकता है।

3. कृषकों को मजदूरों के समकक्ष या उनका पूरक माना जाता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि कृषकों एवं श्रमिकों को एक ही श्रेणी में रखा जाता है। ऐसा मानने से यह स्पष्ट होता है कि कृषकों का विभिन्न वर्गों द्वारा शोषण होता है। एक ओर शोषित कृषक वर्ग होता है तथा दूसरी तरफ उनके शोषक।

आन्द्रे बेते ने कृषि करने वाली जनसंख्या (Agricultural Population) तीन भागों में बाँटा है।

1. भूस्वामी जो कृषि कार्य से अलग है तथा पट्टे का मालिक है।
2. भू–स्वामी जो कृषि कार्य में संलग्न है तथा किराये पर जोतने वाला जिसको जोतने के अधिकार के सन्दर्भ में मान्यता मिली है।
3. बटाई पर जोतने वाले तथा कृषि कार्य करने वाले मजदूर

आन्द्रे बेते का मत है कि अगर कृषक के पूर्ण अर्थ को ग्रहण करें तो केवल द्वितीय भाग ही कृषक समाज है। अगर कृषक प्रत्यय को थोड़ा लचीलेपन से प्रयोग करें तो द्वितीय तथा तृतीय भाग कृषक समाज का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। अतः भारत के सन्दर्भ मे सम्पूर्ण गैर–जनजाति ग्रामीण समाज को कृषक समाज नहीं कह सकते तथा इसकी संरचनात्मक गति को समझाने के लिये नये प्रत्यय को महत्व देना होगा।

24.5 भारत में खेतिहर समाज की अवधारणा

ग्रामीण भारत के सन्दर्भ में कृषक समाज की संज्ञा पूर्णरूप से सामाजिक संरचना, विभेदीकरण तथा मान्य कई विशेषताओं को स्पष्ट करने में असफल रही है। ग्रामीण भारत के सन्दर्भ में कृषक समाज की व्याख्याओं से ये प्रतीत होता है कि कृषक समाज ग्रामीण भारत की सामाजिक संरचना तथा विभेदीकरण को समझाने में पूर्ण नहीं है। इसके अतिरिक्त कृषक समाज की कई महत्वपूर्ण विशेषतायें ग्रामीण भारतीय समाज के सन्दर्भ में बेमेल हैं। अतः ग्रामीण भारतीय सामाजिक संरचना को समझने के लिये खेतिहर समाज की संज्ञा को उचित माना गया।

आन्द्रे बेते का मानना है कि खेतिहर समाज का अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं है परन्तु यह कृषक समाज तथा संस्कृति से अधिक विशिष्ट है। खेतिहर प्रणाली के अध्ययन के केन्द्र में भूमि तथा उसका उत्पादन महत्वपूर्ण है।

भारत में भूमि से जुड़ी समस्या या खेतीहर सामाजिक सरंचना दो, मुख्य बिन्दुओं से जुडी हैं।

1. प्रौद्योगिकी व्यवस्था (Technological arrangement)
2. सामाजिक व्यवस्था (Social arrangement)

प्रौद्योगिकी व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि व्यवस्था, या भूमि के उपयोग की बात होती है। इसके अन्तर्गत परिस्थितियॉ तथा कृषि के सन्दर्भ में नई तकनीक जैसे कि पानी का पम्प, थ्रेसर, रासायनिक खाद, उन्नत बीज इत्यादि शामिल है। सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत भूस्वामित्व तथा भूमि पर अधिकार की बात होती है। भारतीय ग्रामीण समाज आज भी बहुत अधिक विभेदीकृत है। भूस्वामी, कृषि मजदूर, बटाईदार सभी प्रदेशों में दिखाई देते है।

डेनियर थार्नर ने भारतीय ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था की विविधताओं से एक सामाजिक वर्गीकरण खेतिहर समाज के सन्दर्भ में किया है। इन्होंने तीन तथ्यों के आधार पर यह वर्गीकरण किया है।

1. **भूमि से प्राप्त आय का प्रकार**

   क. भूमिकर,

   ख. अपनी जोत का फल,

   ग. मजदूरी

   अधिकार के प्रकार के आधार पर

   क. स्वामित्व या मालिकाना अधिकार

   ख. काश्तकारी (एक सीमा तक सुरक्षित काश्त)

   ग. बटाईदारी के अधिकार

   घ. पूर्ण अधिकार हीनता

2. **वास्तविकता में किया गया कृषि कार्यः**

क. अनुपस्थित रहने वाले अर्थात जो कोई भी कार्य नहीं करते,

ख. जो थोड़ा आंशिक कार्य करते हैं,

ग. वास्तविक जोतने वाले तथा उसके पारिवारिक श्रमिक द्वारा पूरा कार्य,

घ. मजदूरी अर्जित करने के लिए पूर्ण कार्य दूसरो के हेतु पूर्ण कार्य किया जाये।

उपयुर्क्त वर्गीकरण के आधार पर डेनियल थार्नर ने निम्नलिखित मॉडल (प्रारूप) खेतिहर वर्ग संरचना के संदर्भ में दिया।

1. मालिक बड़े जमींदार, अमीर भू–स्वामी
2. किसान छोटे भू–स्वामी, वास्तविक काश्तकार
3. मजदूर गरीब काश्तकार, बटाईदार, बिना भूमि के मजदूर

1. मालिक

इनकी आय का स्रोत भूमि संपत्ति का अधिकार है। इनका मुख्य उद्देश्य भूमिकर को बढ़ाये रखना तथा मजदूरी कम रखना है। यह वर्ग काश्तकार से भूमिकर इक्ट्ठा करता हे। थार्नर ने मालिक वर्ग को दो भागों में बाँटा है।

a. बड़े जमींदार

इनका भूस्वामित्व अधिकार काफी बड़े क्षेत्र में फैला होता है (कई गाँवों में भू–स्वामित्व)। ये अपनी उपस्थितिहीनता के बावजूद मालिक होते हैं। इनकी भूमि व्यवस्था तथा विकास में कोई रूचि नहीं होती।

b. अमीर भू–स्वामी

इनके पास पर्याप्त भू–स्वामित्व होता है। इनकी भूमि केवल इनके ही गॉव में होती है। ये कोई खेती से जुड़ा कार्य नहीं करते परन्तु जमीन का प्रबन्ध तथा निरीक्षण करते हैं। भूमि के विकास तथा सुधार में रूचि लेते हैं।

2. किसान

कृषि कार्य करने वाले कृषक है। भू–सम्पति में इनका अधिकार है। परन्तु यह अधिकार कानूनी तथा प्रथानुसार मालिक से निम्न होता है। थार्नर ने इसे भी दो भाग में विभाजित किया है।

a. छोटे भू–स्वामी

भूमि इतनी ही होती है कि परिवार के साथ मिलकर बिना बाहरी मजदूर की सहायता के अपने परिवार को पाल सकें।

b. वास्तविक काश्तकार

इस वर्ग द्वारा किराये पर ली गई भूमि इतनी होती है कि उस पर खेती करके गुजारे लायक उपज ली जा सके। इनके काश्तकारी अधिकार अपेक्षाकृत सुरक्षित होते हैं। क्योंकि यह एक संविदा पर आधारित होते हैं।

3. मजदूर

ऐसे लोग जो दूसरों के खेतों पर काम करके अपनी जीविका चलाते हैं।

1. गरीब काश्तकार

गरीब काश्तकारों के काश्तकारी अधिकार सुरक्षित नहीं है। भूमि का क्षेत्रफल इतना छोटा है कि उपज पाना कठिन हो जाता है। इनकी आय कृषि कार्य की अपेक्षा मजदूरी से अपेक्षाकृत कम ही होती है।

2. बटाईदार

कृषि उपज की बटाई के आधार पर बटाईदार भू–स्वामियों से भूमि को लेता है। इनके पास कृषि से जुड़े यंत्र होते हैं तथा कृषि कार्य हेतु यह अपने यन्त्रों का प्रयोग करते हैं।

3. बिना भूमि के मजदूर

मजदूरी के लिए जो दूसरों के खेत पर काम करते हैं। उन्हें कोई भी अधिकार नहीं मिले होते हैं। डेनियल थार्नर का मानना है कि यह वर्गीकरण अपने आप में पूर्ण नहीं है। कभी–कभी व्यक्ति कई श्रेणियों में अपने आपको पाता है। उदाहरण के तौर पर एक व्यक्ति भूमि के एक भाग पर खुद खेती करता है, दूसरे भाग को जो दूसरे गाँव में है बटाई पर देता है तथा अपने गाँव में वह दूसरे की कुछ भूमि बटाई पर ले सकता है।

इस तरह से हम देखते हैं कि भारत मे ंएक अजीब सी खेतिहर संरचना दिखाई पड़ती है। यह संरचना अंग्रेजों को पूर्व की आर्थिक व्यवस्था तथा आज की आधुनिक निजी सम्पत्ति के आधार के बीच हैं। इसके फलस्वरूप स्तरीकरण की जो संरचना दिखाई पड़ती है उसमें राज्य सर्वोपरि है तथा इसके बाद बड़े भूस्वामी, छोटे भूस्वामी तथा मजदूर वर्ग दिखाई पड़ता है। इस स्तरीकरण का परिणाम यह हुआ कि किसान जो कि भूमि पर अपने श्रम से उपज को पैदा करता है उसके पास अपने जीवनयापन के अलावा कुछ भी अतिरिक्त पूँजी शेष नहीं बचती।

इसके परिणामस्वरूप ने तो किसान और न ही मजदूर अपनी क्षमता के अनुसार उत्पादन कर पाता है। जो किसान औसत भूमि के स्वामी होते हैं वह भी प्रगति उन्मुख नहीं होते अपितु उनका हित केवल कृषि से कुछ आय हो जोन की होती है जिससे कि उनका जीवन यापन तथा जीवन की अन्य जरूरतें पूरी हो सकें। इस प्रकार से एक समाज ऐसा विकसित होता है जो बदलाव तथा नयेपन को नकारता है तथा रूढ़िवादी विचारों को पोषित करता है। खेतिहर सामाजिक सरंचना में सभी वर्गों का मुख्य उद्देश्य यह नहीं होता है कि किस तरह आय बढ़ाई जाय बल्कि किस तरह से कृषि कार्य से दूर रहा जाय। व्यक्ति सामाजिक प्रतिशठा को बढ़ाने के लिये खेती के कार्यों से दूरी बना लेता है। इसका एक अच्छा उदाहरण महिलाओं की कृषि कार्य में भागीदारी है। मध्यवर्ग के किसान जब अच्छी आय कर लेते हैं तो सामाजिक प्रतिष्ठा की श्रेणी में आगे बढ़ने के लिये वे अपनी महिलाओं को बाहरी कृषि कार्य से मुक्त कर घेरलू कार्यों मे ंसंलग्न कर लेते हैं। महिलाओं को बाहरी कृषि कार्य से मुक्त कर घरेलू कार्यों में संलग्न कर लेते हैं। महिलाओं का इस तरह से कृषि कार्य से अलगाव उनकी गतिशीलता तथा आर्थिक हितों को बाधित करता है परन्तु पुरूष समाज के लिए यह एक प्रतिष्ठा से जुड़ा प्रश्न है। वैश्वीकरण के इस युग में नई आर्थिक व्यवस्था के सन्दर्भ में ग्रामीण खेतिहर सामाजिक संरचना में बदलाव आ रहे हैं।

24.6 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. कृषक समाज को मालिक, किसान तथा मजदूर वर्ग में डेनियल थार्नर ने विभाजित किया। (सत्य/असत्य)
2. एरिक वोल्फ ने कृषक समाज को दो वर्गों, खुला कृषक समाज तथा बन्द कृषक समाज में विभाजित किया ।(सत्य/असत्य)
3. निम्न में से कौन एक कृषक समाज है।

    क. फ्रांसिसी समाज   ख. विकसित समाज

    ग. भारतीय समाज   घ. प्रगतिशील समाज

4. निम्नलिखित में से किसने कृषक समाज को खुला कृषक समाज तथा बन्द कृषक समाज में विभाजित किया।

    क. डेनियल थार्नर   ख. ऑद्रे बेते

    ग. ऐरिक वोल्फ   घ. उपर्युक्त कोई नहीं

24.7 उत्तर

1. सत्य
2. सत्य
3. ग
4. ग

24.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Beleille, Andre; 2002, Sociology: Essays on approach and Methoud, Oxford university Press, New Delhi.
2. Das, Veena (ed.); 2004 . Hand Book of Indian Sociology, Oxford University Press, New Delhi.
3. Johnson, Kirk 2005, Globalization at the row roads of tradition and modernity in rural India, Sociological Bulletin, Volume 54 number 1, January- April 2005.
4. Madan Vandana (ed.); 2004 The Village in India, Oxford University Press, New Delhi.
5. Singh, Yogendra; 1993, Social Change in India: Crisis and Resilience, Har-Anand Publication, Delhi.
6. Singh, Yougendra; 2003, Idiology and theory in Indian Sociology, Rawat publication, Jaipur.
7. Srinivas, M.N.; 1995, Social change in modern India, Orient Longman

इकाई–25

कृषक वर्ग संरचना और परिवर्तन

इकाई की रूपरेखा

25.1 उद्देश्य

25.2 प्रस्तावना

25.3 आर्थिक क्षेत्र में परिवर्तन–

25.4 शक्ति की संरचना में परिवर्तन

25.5 स्वतंत्रता तथा सामाजिक परिवर्तन

25.6 भूमण्डलीकरण (वैश्वीकरण) तथा भारतीय ग्रामीण समाज व्यवस्था

25.7 वैश्वीकरण तथा संस्कृति

25.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

25.9 उत्तर

25.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

25.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

1. कृषक समाज में आ रहे परिवर्तनों के बारे में जानेंगे।
2. कृषक वर्ग संरचना में आ रहे परिवर्तन भविष्य में क्या समस्याएं पैदा करेंगे इस पर चर्चा होगी।

25.2 प्रस्तावना

सामाजिक परिवर्तन एक सार्वभौमिक एवं अनिवार्य प्रक्रिया है। सामाजिक परिवर्तन की गति असमान तथा सापेक्षित होती है। सामाजिक संरचना के सभी तत्व समान रूप से गतिशील नहीं होते हैं। परिवर्तन के एक ही कारक का प्रभाव अलग–अलग समूहों में भिन्न होता है। परिवर्तन के प्रत्येक कारक हर समाज में समान रूप से प्रभावकारी नहीं होते हैं। इस सन्दर्भ में जब हम भारतीय ग्रामीण समाज की बात करते है तो यह पाते हैं कि वर्तमान सामाजिक– आर्थिक परिवर्तनों ने ग्रामीण समाज में भी गुणात्मक परिवर्तन किये हैं।

अगर हम ग्रामीण अध्ययनों के विकास का देखे तो पता चलता है कि उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों तथा बीसवीं सदी के शुरूआती दौर में अध्ययन केवल सूचनायें इक्ट्ठा करने या कुछ नृशास्त्रीय (Ethnographic) अध्ययन तक सीमित था। भारतीय गांव एक बड़े सामाजिक प्रणाली का एक अंग है इस तरह

का चिंतन 1950 के बाद से ही शुरू हो सका। आजादी के बाद से ग्रामीण भारत के समाज में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुये हैं। ए.आर. देसाई ने इस ग्रामीण रूपान्तरण के लिये चार प्रवृत्तियों को चिन्हित किया है।

1. कृषक समाज का एक पारम्परिक, जीवन निर्वाह आधारित समाज से बाजार आधारित लाभोन्मुख समाज में रूपान्तरण।
2. बिखरी हुई, शिथिल, अर्ध–विकसित कृषि व्यवस्था का आधुनिक नगरीय प्रौद्योगिकी के प्रयोग से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में सकल रूप से जोड़ने का प्रयास।
3. कृषक समाज में कुछ विशेष वर्गों को जैसे जमींदार आदि के महत्व को कम करना तथा उनके उन्मूलन का प्रयास।
4. नगरी प्रभावों से प्रभावित व उनसे नजदीकी रिश्ते रखने वाली विभिन्न समितियों व संस्थाओं का कृषक समाज में उदय

भारत के सभी क्षेत्रों में गॉव बदल रहे हैं। ये बदलाव आर्थिक संस्थाओ, शक्ति संरचना तथा अन्तर्जाति सम्बन्धों के सन्दर्भ में देखे जा सकते हैं।

25.3 आर्थिक क्षेत्र में परिवर्तन

भूमि सुधार आर्थिक क्षेत्र में बदलाव का एक मुख्य स्रोत है। गॉवों में भूमि सुधार कई तरह से लागू किये गये जिसका विवरण निम्नलिखित हैः–

(i) बिचौलियों की भूमिका का अंत।

(ii) भूमि हदबन्दी तथा भूमि का पुनर्वितरण

(iii) भूमि चकबंदी जिससे कि भूमि का टिकाऊपन तथा उपजाऊपन बना रहें।

(iv) समूहिक खेती पर जोर तथा प्रोत्साहन।

(v) भूदान आन्दोलन के द्वारा भूमि अमीरों से लेकर गरीबों में वितरण।

उपर्युक्त सुधार प्रत्येक राज्य ने अपने तरीके से किये परन्तु उसके समाजशास्त्रीय परिणाम एक समान निकले।

25.4 शक्ति की संरचना में परिवर्तन

जो भी विशेष अधिकार तथा आर्थिक अधिकार एक बिचौलिये के रूप में जमींदार आदि को मिले थे वह जमीदारी एक्ट से खत्म हो गये। यह हालांकि गॉव में एक बराबरी के समाज का निर्माण करने में विफल रहा परन्तु इसने एक सामाजिक मनोवैज्ञानिक फायदा छोटे किसानों तथा संसाधनविहिन लोगों को दिया। ये लोग गॉव की राजनीतिक तथा सामाजिक संरचना में पारम्परिक प्रभुत्व वर्ग की चुनौती देने लगे।

योगेन्द्र सिंह, एनल बील्स, ऑस्कर लेविस इत्यादि ने ग्रामीण शक्ति संरचना का अध्ययन किया तथा यह बताया कि अन्तर्जातीय सम्बन्धें के सन्दर्भ में एक बदलाव दिखाई पड़ा है। ग्राम पंचायत सैद्धान्तिक रूप में तो ग्रामीण शक्ति संरचना में सर्वोच्च स्थान रखती थीं परन्तु वास्तविक व्यवहार में प्रभुत्व उन लोगों

का होता था जो भूमि के स्वामी थे। शक्ति सरंचना के संदर्भ में बात करें तो आजादी के शुरूआती वर्षों में उच्च जातियों का वर्चस्व था परन्तु यह विशेषता भी दिखाई देने लगी कि युवा लोग भी नेतृत्तव के रूप में सामने आने लगे।

73वें संविधान संशोधन ने महिलाओं को भी गाँव की शक्ति संरचना में भागीदारी करने को प्रोत्साहि किया है। अध्ययन यह बताते हैं कि महिलाओं के लिए पंचायतों में आरक्षण उनको अनिवार्य रूप से शक्ति संरचना में भाग लेने के लिये बाध्य कर रहा है। महिलाओं की यह भागीदारी शुरूआत में एक सांकेतिक महत्व की थी परन्तु धीरे–धीरे यह बदलाव एक सार्थक भागीदारी के रूप में सामने आ रहा है।

नेतृत्व परोक्ष रूप में स्तरीकरण का एक रूप है। पारम्परिक संरचना में बहुत बदलाव नहीं हुआ है। प्रजातान्त्रिक अधिकार तथा कानूनी सहयोग उनको सत्ता में भागीदारी के लिये प्रोत्साहित करते हैं परन्तु आर्थिक पिछड़ापन उनको रोकता है। योगेन्द्र सिंह के अनुसार जहॉ पर निम्न जातियों या वर्गों के लिये आर्थिक रूप से आगे बढ़ने की संभावना है वहॉ पर आर्थिक सुधार, शक्ति संरचना में परिवर्तन या संतुलन बनाने के लिये एक संशक्त भुमिका निभाता है। उदाहरण के तौर पर एफ0जी0 बेली द्वारा बोड तथा गंजम जातियॉ का अध्ययन विसीपेड़ा, उड़ीसा में इस तथ्य को पूरी तरह दर्शाता है।

आज ग्रामीण समाज में वर्गों तथा जातियों के बीच सम्बन्ध में बदलाव हो रहे हैं। भूमि का स्वामित्व बहुत ही कम मात्रा में निम्न वर्ग तथा जाति की तरफ गया है परन्तु राजनितिक शक्ति निर्णायक रूप से नये नेतृत्व के हाथों में गई है। आज सामाजिक संरचना में शक्ति तथा वर्चस्व भूमि से जुड़ा नहीं है अपितु, जाति, वर्ग से भी अलग समूह विशेष की जनसंख्या पर निर्भर करता है। एम0एन0 श्रीनिवास ने प्रभुत्व जाति के सन्दर्भ में भी जनसंख्या को महत्वपूर्ण माना है। विकास तथा प्रगति का फायदा गॉवों में मुख्यतः ऊँची जाति तथा वर्ग को मिला है। लेकिन यह भी सत्य है कि तुलनात्म रूप से जीवन शैली के स्तर, स्वास्थ्य तथा स्वच्छता, घर इत्यादि के संदर्भ में निम्न वर्ग तथा जातियों को भी लाभ मिला है। योगेन्द्र सिंह के अनुसार परम्परागत ताकतवर समूह अभी भी ग्रामीण शक्ति संरचना को प्रभावित करते हैं तथा महत्वपूर्ण हैं। इनके अनुसार शक्ति अीाी भी परम्परागत ताकतवर लोगों के हाथ में है परन्तु यह अब परम्परा के द्वारा संस्थापित नहीं है।

25.5 स्वतंत्रता तथा सामाजिक परिवर्तन

स्वतंत्रता के बाद राज्य का मुख्य उद्देश्य नियोजन के माध्यम से विकास को बढ़ावा देना था। ये मुख्य उद्देश्य जनतांत्रिक राजनीतिक भागीदारी, सामाजिक न्या, सांस्कृतिक तथा धार्मिक बहुलवाद के मूल्यों के सन्दर्भ में परिभाषित थे। जाति, जन्म, धर्म तथा लिंग के आधार पर जो भेद थे वह खत्म हुये तथा भारतीय संविधान के माध्यम से एक ऐसे राज्य तथा समाज के निर्माण का प्रयास किया गया जहॉ पर सभी को बराबरी का अधिकार मिले।

1950 तथा 60 के दशक में सामाजिक परिवर्तन का प्रभाव भारतीय गॉवों में एक समान नहीं था। परम्परागत जाति तथा वर्ग का प्रभुत्व बना रहा तथा जो भी चुनौती निम्न वर्ग तथा जाति द्वारा दी गई, वह बहुत कारगर नहीं थी। जो भी महत्वपूर्ण बदलाव देखने को मिला वह दक्षिण भारत के गॉवों में देखने को मिला। परन्तु 1970 तथा 80 के दशक में जो भी निवेश 1950 तथा 60 के दशक में हुआ था उसका परिणाम दिखाई देने लगा। कई ग्रामीण क्षेत्रों में 'हरित क्रान्ति' के

माध्यम से एक खेतिहर मध्य वर्ग का जन्म हुआ। हरित क्रान्ति एवं विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में जो विकास हुआ उसने कृषि उत्पादन में नये सामाजिक सम्बन्धों को जन्म दिया एक नयी अन्तर्क्रिया तकनीकी, सामाजिक सम्बन्ध तथा संस्कृति में होने लगी। सामाजिक रूप से हरित क्रान्ति का माध्यम मध्य वर्ग बने जो भूमि तथा कृषि से सीधे जुड़े थे। जाट, कुर्मी, यादव उत्तर भारत में, पटेल तथा पट्टीदार गुजरात में, मराठा महाराष्ट्र में, कामा रेड्डी आंध्रप्रदेश में वानियर तथा नाडर तमिलनाडु में मुख्य जातियां है जिन्होंने इसका भरपूर लाभ लिया। योगेन्द्र सिंह के अनुसार इसके निम्नलिखित प्रभाव हुयेः—

1. उत्पादन की इकाई परिवार ही रही परन्तु नेतृत्व बूढ़े लोगों के हाथ से निकलकर युवा लोगों को मिल गया।
2. चूँकि तकनीक तथा नये परीक्षणों के लिये युवा ही तैयार थे तथा ये लोग ही पढ़े—लिखे भी थे, इसलिये इनकी भूमिका पंचायतों तथा ग्रामीण राजनीति में भी देखने को मिली।

हरित क्रान्ति ने मध्य कृषक वर्ग को इक्ट्ठा किया तथा एक प्रभुत्व वर्ग में बदल दिया। ऐसा नहीं है कि ग्रामीण गरीब लोग इस एकीकरण से दूर हों वह सभी अपने आप में संगठित हुये। परन्तु मध्य कृषक वर्ग तथा निम्न वर्ग के संगठित होने की प्रक्रिया में एक संघर्षपूर्ण स्थिति बनी रही। जिसकी वजह से ग्रामीण समाज में एक संघर्ष तथा असामंजस्य की स्थिति बनी रही।

आजादी के शुरूआती दशक में औद्योगिक विकास को बढ़ावा दिया गया। इसक फलस्वरूप नगरों तथा टाउनशिप का विकास हुआ। ग्रामीण समाज पर भी इसका प्रभाव पड़ा। रोजगार तथा बेहतर जीवन की तलाश में ग्रामीण क्षेत्र से शहरों की तरफ पलायन हुआ। शुरूआती दौर में समाज विज्ञानियों की जो चिंता थी कि धार्मिक मूल्य विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के विकास को बाधित करेंगे या विज्ञान मनुष्य के जीवन से धर्म को बेदखल कर देगा, निर्मूल साबित हुई।

25.6 भूमण्डलीकरण (वैश्वीकरण) तथा भारतीय ग्रामीण समाज व्यवस्था

योगेन्द्र सिंह के अनुसार वैश्वीकरण एक समेकित प्रक्रिया है। यह समाज में हो रहे नये विकास के आयामों में एक बिन्दु पर आकर मिलने से उत्पन्न होता है। विकास के ये तत्व हैंः

1. विज्ञान, प्रौद्योगिकी तथा संचार में समकालीन क्रान्ति
2. उच्च वेग से बाजार का विकास
3. पूँजी तथा बाजार का विकास
4. सामाजिक गतिशीलता में तेजी
5. कार्य करने वालों का प्रजनन

इसके अतिरिक्त इसकी सहयोगी प्रक्रियायें हैं—

1. मीडिया के द्वारा सांस्कृतिक अन्तक्रिया की प्रक्रिया जिसमें विभिन्न समूहों की भागीदारी है।

2. खाली समय की क्रियाओं में बढ़ोत्तरी

3. पर्यटन में विकास

वैश्वीकरण के इन तत्वों का सामाजिक संरचनात्मक तथा राजनीतिक महत्व है। वैश्वीकरण के खंडित अध्ययन पूरी तस्वीर को नहीं दिखाते अतः एक पूर्ण अध्ययन की जरूरत है जिसमें सभी तत्वों को एक साथ रखकर इसके प्रभाव की चर्चा की जा सके।

सामाजिक संरचना के सन्दर्भ में भारत की जब बात करतें हैं तो यह दिखाई पड़ता है कि 70 प्रतिशत जनसंख्या ग्रामीण है तथा कृषि पर निर्भर है। इसलिये वैश्वीकरण जो मुख्य परेशानी पैदा कर सकता है वह है समाज में गैर–बराबरी तथा भिन्नता। यह भिन्नता कई स्तरों पर हो सकती है जैसे गॉव तथा शहर के बीच, मध्य वर्ग तथा मजदूर वर्ग, पुरूष समाज तथा महिला समाज के बीच, साक्षर तथा निरक्षर लोगों के बीच।

संरचनात्मक बदलाव वैश्वीकरण के माध्यम से आर्थिक क्षेत्र में ही प्राथमिक रूप से होता है। भारत ने शुरू से ही एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था को अपनाया जो समकालीन विश्व आर्थिक व्यवस्था के सन्दर्भ में बेमेल है। 1990 की शुरूआत में भारत ने उदारीकरण, गैर–सरकारीकरण के माध्यम से वैश्वीकरण के तहत पूॅजीवाद विश्व व्यवस्था के संदर्भ में आर्थिक नीतियों में कुछ बदलाव किये। यहीं से एक नये युग की शुरूआत हुई।

उपरोक्त परिवर्तनों के संदर्भ में मुख्य चुनौती कृषि क्षेत्र के लिये है। लगभग 60 से 70 प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर निर्भर करती है। लगभग 90 प्रतिशत रोजगार गैर संगठित क्षेत्र में है जिसमें कृषि एक प्राथमिक तत्व है। अध्ययन सह बताते है कि 1990–98 की समयावधि में लगभग 40 लाख लोग गॉवो में तथा 30 लाख लोग शहरों में रोजगार से वंचित हुये हैं। 1993–94 एन.एस.एस. की गणनानुसार लगभग 44 प्रतिशत ग्रामीण पुरूष तथा 80 प्रतिशत महिलायें अशिक्षित हैं। कृषि के क्षेत्र में, ग्रामीण मानव संसाधन के संन्दर्भ में तथा तकनीकी ज्ञान के संदर्भ में सुधार आवश्यक है।

25.7 वैश्वीकरण तथा संस्कृति

भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में हमेशा से यह तर्क दिया जाता रहा कि वैश्वीकरण के कारण संस्कृति के सन्दर्भ में वैश्वीकरण एक तरह से पश्चिमीकरण का नया अवतार है। भारतीय सभ्यता बहुत पुरानी है तथा समय–समय पर उसने अपना लचीलापन दिखाते हुये विभिन्न सांस्कृतिक समूहों को अपने आप में आत्मसात्किया है। परन्तु इस प्रक्रिया में हर बार उसने अपनी पहचान नहीं खोई है। किर्क जानसन (2003) ने भी इस बात का समर्थन किया है कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने ग्रामीण सामाजिक सांस्कृतिक संरचना को विलोपित तथा अपमानित नहीं किया है। यह तर्क कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया द्वारा संस्कृति का विलोप हो जायेगा, गलत है। अपितु वैश्वीकरण की प्रक्रिया स्थानीय संस्कृति को विलोपित कर रहा है। आज के सन्दर्भ में यह जरूरी है कि ग्रामीण सामाजिक संरचना को सुद्‌ढ़ करने तथा संघर्ष से बचाने के लिए मानव संसाधनों को उचित प्रयोग जरूरी है। कृषि क्षेत्र में भी नये शोधों तथा विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी को अपनाने की जरूरत है।

25.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. भूमण्डलीकरण आज के संदर्भ में एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। (सत्य/असत्य)
2. लघु समुदाय की कुछ विशेषतायें जो वृहद समाज में स्थान पा जाती उसे राबर्टसन ने ग्लोकलाइजेशन कहा। (सत्य/असत्य)
3. निम्न में से कौन सी विशेषता वैश्वीकरण को नहीं दर्शाती है–
   क. उच्च वेग से बाजार का विकास
   ख. सामाजिक गतिशीलता में कमी
   ग. कार्य करने वालों का प्रव्रजन
   घ. पूँजी का विकास
4. वैश्वीकरण का प्रभाव सर्वप्रथम दिखाई पड़ता है।
   क. आर्थिक क्षेत्र में   ख. सामाजिक क्षेत्र में
   ग. राजनीतिक क्षेत्र में   घ. उपर्युक्त में से कोई नहीं

25.9 उत्तर

1. सत्य
2. सत्य
3. ख
4. क

25.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Beleille, Andre; 2002, Sociology: Essays on approach and Methoud, Oxford university Press, New Delhi.
2. Das, Veena (ed.); 2004 . Hand Book of Indian Sociology, Oxford University Press, New Delhi.
3. Johnson, Kirk 2005, Globalization at the row roads of tradition and modernity in rural India, Sociological Bulletin, Volume 54 number 1, January- April 2005.
4. Madan Vandana (ed.); 2004 The Village in India, Oxford University Press, New Delhi.
5. Singh, Yogendra; 1993, Social Change in India: Crisis and Resilience, Har-Anand Publication, Delhi.
6. Singh, Yougendra; 2003, Idiology and theory in Indian Sociology, Rawat publication, Jaipur.
7. Srinivas, M.N.; 1995, Social change in modern India, Orient Longman.

इकाई–26

नगरीय वर्ग संरचना–I श्रमिक वर्ग

इकाई की रूपरेखा

26.1 उद्देश्य

26.2 प्रस्तावना

26.3 भारतीय नगरीय समाज में वर्ग–व्यवस्था

26.4 नगरीय समाज में वर्ग

26.5 नगरीय श्रमिक वर्ग की विशेषताएँ

26.6 क्षेत्र के अनुसार श्रमिक वर्ग का विभाजन

26.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

26.8 उत्तर

26.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

26.1 उद्देश्य

इस इकाई को अध्ययन के बाद आप–

1. वर्ग व्यवस्था के अंतर्गत वर्ग के विभाजन को जान पाएंगे।
2. आजादी से पहले और आजादी के बाद भारत के नगरीय समाज में वर्ग विभाजन को समझ पाएंगे।
3. नगरीय श्रमिक वर्ग की विशेषताओं को जान पाएंगे।

26.2 प्रस्तावना

नगरीय समाजों और विशेषकर आधुनिक औद्योगिक समाजों में सामाजिक स्तर के आधारों में वर्ग उल्लेखनीय है। कार्ल मार्क्स वर्ग को व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का निर्धारक ही नहीं मानते बल्कि मार्क्स का मानना है कि वर्गों के ध्रुवीकरण के परिणामस्वरूप ही समाजों में परिवर्तन एवं विकास भी हो जाता है। मार्क्स की दृष्टि में वर्ग विरोधी समूह हैं और मूलतः इस विरोधी तत्व के कारण समाज में दो मुख्य वर्ग होते हैं। प्रथम जिनका उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण अथवा स्वामित्व है तथा दूसरा जो नियंत्रण या स्वामित्व से वंचित है।

एन्थॉनी गिडिंग्स का मत है कि विकसित समाजों में मार्क्स का द्विवर्गीय प्रारूप अब उपयोगी नहीं है। अब अनेक वर्ग अस्तित्व में आ गये हैं। गिडिंग्स ने तीन वर्गों के उभर कर आने की बात कही है जिनमें स्पष्ट विभाजन संभव नहीं है।[cc]

एन्थॉनी गिडेन्स का त्रिवर्गीय प्रारूप निम्न प्रकार का है–

1. उच्च वर्ग– पूँजीपति वर्ग
2. मध्यम वर्ग– शिक्षित एवं तकनीकी योग्यता वालों का वर्ग
3. निम्न वर्ग– कम दक्ष व्यक्ति, मजदूर वर्ग

26.3 भारतीय नगरीय समाज में वर्ग–व्यवस्था

भारत में वर्ग–व्यवस्था के उदय व विकास के यात्रा को भारत में अंग्रेजों के आगमन के साथ रखकर ही भलीभाँति समझा जा सकता है। मूलतः भारत में स्पष्ट रूप से वर्ग–व्यवस्था का उदय अंग्रेजी काल में ही आरंभ हुआ।

ब्रिटिश काल और वर्ग–व्यवस्था

मूलतः अंग्रेज भारत में व्यापार करने के लिए आये थे और धीरे–धीरे यहाँ पर शासन करने लगे। यही कारण रहा कि अंग्रेजों की राजनीतिक तथा धार्मिक नीति अन्तर्ग्रथित रही। यूरोप में अठाहरवीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति हुई। उस समय भारत में अंग्रजों का शासन था और उस समय अंग्रेजों की रूचि भारत में व्यापार करने में ज्यादा और राजनीति में कम थी। इसके बावजूद भी अग्रेजों ने अपने अन्तर्निहित स्वार्थों के कारण भारत में भी न केवल औद्योगिक क्रान्ति की नींव डाली वरन् उसे तेज करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस औद्योगिक क्रान्ति का, जो मूलतः यूरोप में हुई, का भारतीय समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा, जिनमें से यहां पर तीन महत्वपूर्ण प्रभावों को चिन्हित करना अधिक प्रासंगिक होगा।

1. औद्योगीकरण की प्रक्रिया का आरम्भ
2. नये श्रमिक वर्ग का निर्माण और
3. नई शिक्षा पद्धति की शुरूआत

धीरे–धीरे अंग्रेजों की रूचि व्यपार के अतिरिक्त शासन की ओर होने लगी और अपनी प्रशासनिक व्यवस्था को चलाने एवं सुदृढ बनाने के लिए लॉर्ड मैकाले ने भारत में नई शिक्षा पद्वति की शुरूआत की जिसे हम आज भी अपनाये हुये हैं तथा मैकाले–शिक्षा पद्वति के नाम से जानते हैं। इस पद्वति से स्वदेशी बावुओं का निर्माण हुआ। जिसके बारे में स्वयं मैकाले का विचार था कि यह एक ऐसा वर्ग होगा जो रक्त और रंग में भारतीय होगा परन्तु रूचि, विचार, आचरण तथा बुद्वि में अंग्रेज। भारत में मध्यम वर्ग की बीज रूप में शुरूआत इसी काल से मानी जाती है जो वर्तमान में विश्व के सबसे बडे मध्यम वर्ग के रूप में पहचाना जाने लगा है। इसके अलावा कुछ अनन्य प्रक्रियायें भी आरम्भ हुईं जिनमें नये व्यवसायों का जन्म, धन कमाने के नये–नये तरीके आदि हैं। इन्होनें मध्यम वर्ग के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।[cci] सूत्र रूप में इसे निम्न रूप में प्रदर्शित कर सकते हैं:–

19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से भारतीय समाज में जो मुख्य प्रक्रियायें देखने को मिलती हैं उन्हें बिन्दु रूप में निम्नानुसार रखा जा सकता है:

(1) औद्योगीकरण को अपनाया और गति प्रदान करना
(2) आत्मनिर्भर ग्रामीण समुदाय का पतन

ए. आर. देसाई ने अपनी पुस्तक 'सोश्यल बैकग्राउन्ड ऑफ इण्डियन नेशनैलिज्म' में भारत में नये वर्गों के उदयों के कारणों में भारतीय कृषि का रूपान्तरण, नई भूमि–व्यवस्था, नागरिक हस्तशिल्प का अपकर्षण, ग्रामीण शिल्प–उद्योगों का पतन, आधुनिक अद्योागों का उद्‌भवतथा आधुनिक शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका मानी है। ये सभी प्रक्रियायें अंग्रेजों के भारत आने के बाद हुई।

उपरोक्त सभी प्रक्रियाओं ने नगरीय सामाजिक व्यवस्था में स्तरीकरण की वर्ग–व्यवस्था को जन्म दिया और अनेक सामाजिक संवर्गों के साथ तीन वृहत् सामाजिक वर्गों का विकास हुआ। इनमें दो प्रमुख तत्व नये थे। प्रथम, औद्योगिक श्रमिक वर्ग का उदय एवं द्वितीय भारतीय समाज में मध्यम वर्ग कस उदय जो न केवल आज नगरों तक सीमित है अपितु ग्रामीण समाज तक पहुंच गया है। यह विश्व का सबसे बडा मध्यम वर्ग माना जा रहा है और विश्व के विकसित देशों के लिए सबसे बडा उपभोक्ता बाजार भी बन गया है।

26.4 नगरीय समाज में वर्ग

मार्क्स के प्रारूप के अनुसार नगरों में दो वर्ग हैं। प्रथम पूंजीपति वर्ग एवं द्वितीय श्रमिक वर्ग, परन्तु यह वर्गीकरण बदलती हुई परिस्थितियों और भारतीय समाज में प्रासंगिक नही रह गया है।

ए.आर. देसाई ने ब्रिटिशकालीन नगरीय भारत में चार प्रमुख वर्गों का अस्तित्व माना है, ये हैं–

1. वाणिज्यिक और वित्तीय पूंजीपतियों और उद्योगपतियों का वर्ग।
2. पेशेवर वर्ग–टैक्निशियन, डॉक्टर, वकील, प्रोफेसर, पत्रकार, मैनेजर, बुद्विजीवियों एवं शिक्षित लोगों का मध्यम वर्ग।
3. छोटे व्यापारी और दुकानदारों का वर्ग।
4. सूती कारखानों, चाय बागानों, कोयला–खानों और यातायात के क्षेत्र में लगे श्रमिकों का मजदूर वर्ग।

भारतीय नगरीय समाज में वर्ग व्यवस्था को समझने में एन्थोनी गिडेन्स का त्रि–वर्गीय प्रारूप अधिक उपयुक्त माना गया है। भारतीय नगरीय समाज में हम अस्पष्ट रूप से विभाजित तीन वर्गों का अस्तित्व देख सकते हैं जिसमें कई उपवर्ग भी हो सकते हैं।[ccii]

इस प्रारूप के आधार पर आधुनिक औद्योगिक नगरीय भारत में वर्गों को निम्नानुसार दर्शाया जा सकता है–

1. **उच्च वर्ग–** (अ) धनिक वर्ग– (1) खानदानी धनाढ्य (2) नव धनाढ्य

    (ब) अभिजात – (1) परम्परागत अभिजात (2) नव–अभिजात

नव अभिजात के स्वरूपः –

(1) राजनीतिक अभिजन

(2) नौकरशाह

(3) व्यावसायिक अभिजन

(4) बुद्धिजीवी अभिजन

(5) वाणिज्यिक अभिजन।

2. **मध्यम वर्ग–** (अ) पुराना मध्यम वर्ग

(ब) नया मध्यम वर्ग

3. **निम्न वर्ग –** (अ) संगठित क्षेत्र के श्रमिक वर्ग

(ब) असंगठित क्षेत्र के श्रमिक वर्ग

(स) अन्य क्षेत्र के श्रमिक वर्ग

सामाजिक आर्थिक संस्तरण के उच्च वर्ग पूंजीपतियों को रखा जा सकता है। यह वह वर्ग है जिसका उत्पादन साधनों पर पर्याप्त नियंत्रण है और वे औद्योगिक श्रमिकों को नियुक्त करते हैं।

परम्परागत भारत में वर्ग उपागम से विश्लेषण करने पर उच्च वर्ग में जमींदारों, साहूकारों, सूदखोरों, सामन्तों को रखा जा सकता है, परन्तु आधुनिक अर्थों में नगरीय समाज में जिसके उच्च वर्ग का वर्णन हम कर रहे हैं वास्तव में उसकी उत्पत्ति अंग्रेजी शासनकाल में 19वीं शताब्दी के मध्य से मानी जा सकती है, जब भारत में सूत व जूट की मिले स्थापित हुईं। प्रारम्भिक काल में अंग्रेज प्रमुख उद्यमी थे परन्तु 1911 में टाटा आयरन एण्ड स्टील वर्क्स की स्थापना के साथ ही ब्रिटिश उद्यम वर्ग का पतन आरम्भ हो गया था तथा भारतीय उद्यमी वर्ग का तेजी से विकास होने लगा। प्रारम्भिक दौर में उद्यमवर्ग पर व्यापारियों, जातियों का वर्चस्व रहा, खासतौर पर उनका जो पहले से ही वाणिज्यिक गतिविधियों मे संलग्न थीं। इस प्रकार भारत में उच्च वर्ग, पूंजीपति वग या उद्यमी वर्ग की एक–दूसरे के साथ संगतता मूल रूप में रही है।[cciii]

भारत में नगरीकरण की प्रक्रिया में नगर तरह–तरह की आर्थिक गतिविधियों के केंद्र रहे है। वे ग्रामीण इलाकों के लोगों को अपनी ओर खींचते हैं। यह आकर्षण जो ग्रामीण जनसंख्या का एक खासा भाग नगरीय क्षेत्रों की ओर खींच लाता है, प्रोत्साहन कारक (Pull Factor) कहलाता है। अगर देहाती इलाकों की गरीबी, कृषि अर्थव्यवस्था का पिछड़ापन और घरेलु या कुटीर उद्योगों का नाश भी ग्रामीणों को नगर की ओर धकेलता है। इसे दबाव कारक (Push Factor) कहते हैं।

इस तरह नगरीकरण की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले प्रोत्साहन और दबाव पलायन कारक भारत में नगरीय श्रमिक वर्ग के उद्भव में भी एक बड़ी भूमिका अदा करते हैं। मगर भारत में प्रोत्साहन और दबाव करक अलग–अलग काम नहीं करते। बल्कि औपनिवेशिक काल से राजसत्ता की राजनीतिक अर्थव्यवस्था ने इन पर जबरदस्त प्रभाव डाला है।

निम्न वर्ग

निम्न वर्ग का अस्तित्व आदिकाल से ही चला आ रहा है लेकिन आधुनिक नगरीय समाजों में निम्न वर्ग का जो स्वरूप हमें आज देखने को मिलता है, इसका विकास विशेषकर भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन–नीत एवं आर्थिक नीति के प्रभाव के रूप में हुआ। इन नीतियों ने ग्रामीण अथव्यवस्था को समाप्त कर दिया और वैकल्पिक रोजगार की तलाश में लोगों को नगरीय क्षेत्रों की ओर पलायन

करना पड़ा। इसमें पुश और पुल संबंधी कारक भी महत्वपूर्ण रहे। औद्योगीकरण एवं नगरीकरण की प्रक्रिया के कारण व्यावसायिक ढांचे में तेजी से बदलाव आया। परिणामतः नगरी क्षेत्रों में नये प्रकार के निम्न वर्ग का विकास हुआ जिसे हम श्रमिक वर्ग कहते हैं।[cciv]

26.5 नगरीय श्रमिक वर्ग की विशेषताएँ

भारत में नगरीय श्रमिक वर्ग की कुछ खास विशेषताएं हैं[ccv] :

1. सबसे मुख्य विशेषता तो यह है कि उनमें से ज्यादातर ग्रामीण इलाकों से नगरो में आए है। ये प्रवासी मजदूर अब भी गांवों में रह रहे अपने नातेदारों से रिश्ता बनाए रखते हैं।

2. हालांकि ज्यादातर प्रवासी मजदूरों ने अपना पुश्तैनी धंधा छोड़ दिया गया है, फिर भी उनमें से एक काफी बड़ा हिस्सा अपने पुश्तैनी या परंपरागत धंधे को बनाए हुए है। नगरीय श्रमिकों का यह वर्ग निम्न जातियों से आता है। मगर यहां पर यह कहना जरूरी होगा कि नगरीय श्रमिक वर्ग जातिगत मूल्यों का कड़ाई से पालन नहीं करता। आमतौर पर श्रमिक वर्ग अपने दृष्टिकोण में ज्यादा धर्मनिरपेक्ष नजर आता है।

3. नगरीय श्रकि वर्ग का एक बड़ा तबका अनपढ़ है। उनमें से ज्यादातर श्रमिक अपने कानूनी अधिकार तक नहीं जानते।

4. वे जाति, धर्म, क्षेत्र, भाषा इत्यादि के आधार पर बंटे होते है। यह विविधता छोटे नगरीय केंद्रों की तुलना में बड़े नगरों में अधिक पाई जाती हैं।

5. नगरीय श्रमिक वर्ग का एक बड़ा तबका अंसगठित क्षेत्र में काम करता है। उनकी आर्थिक समस्याएं संगगठित क्षेत्र में काम कर रहे श्रमिकों की समस्याओं के समान नहीं होती। संगठित क्षेत्र में श्रमिकों को मजदूरी का भुगतान 1936 के वेतन भुगतान अधिनियम और 1948 के न्यूनतम वेतन अधिनियम के अनुसार होता है। एक तरह का काम करने वाले पुरुष और महिला श्रमिकों को बराबर वेतन एवं सुविधाएं देने के लिए भी कानूनी प्रावधान है। संगठित क्षेत्र में श्रमिकों को लाभ या उत्पादता के आधार पर बोनस भी दिया जाता है। जब भी श्रमिकों को वेतन और अन्य सुविधाएं देने की बात आती है तो असंगठित क्षेत्र के मालिक इन प्रावधानों को ताक में रख देते है।

6. नगरीय श्रमिक वर्ग को ग्रामीण श्रमिकों की तुलना में संचार के आधुनिक साधन ज्यादा उपलब्ध है। अतः वे रोजगार के वैकल्पिक रास्तों के बारे में जानते हैं और प्रबंधक से अपनी बात मनव0ाने में अधिक समर्थ होते है। संचार साधनों की यह जानकीर उन्हें अपने समान द्देश्यों के लए संगठन बनाने में सहाकयता करती है। हाल के वर्षों में नगरीय क्षेत्रों में श्रमिक संघ भारती संख्या में उभरे है। केवल नगरीय औद्योगिक वर्ग ही संगठित नहीं हुआ है, बल्कि असंठित क्षेत्र के श्रमिकों ने भी देश के कई भागों में अपने संगठन बना लिए हैं।

7. ज्यादातर नगरीय श्रमिक असुरक्षित हालातों में काम करते है। उन्हें रहने की भी पर्याप्त सुविधा नहीं मिलती। ज्यादातर श्रमिक झोपड़–पट्टियों या गंदी बस्तियों में रहते है। इसलिए उन्हें ऐसी बस्तियों की रोजमर्रा की

समस्याओं से जुझना पड़ता है। गंदगी, कच्चे घ्झर, नाली और बिजली का अभाव, शराबखोरी अपराध, जुआखोरी, इत्यादि इन बस्तियों की आम समस्याएं है।

8. नगरीय श्रमिक वर्ग में रोजगार के क्षेत्र, भाषा, प्रदेश, जाति और जातीयता के माले में काफी निभन्नता या विविधता होते हुए भी उनमें एकता के सामान्य तत्व मौजूद होते है। उनकी एकता काएक बड़ा सामान्य तत्व उनका निम्न आर्थिक स्तर है। उनमें से ज्यादातर आर्थिक असुरक्षा और अनिश्चितता से बराबर घिरे रहते है। साथ में उनके मालिक उनका कई तरह से शोषण करते है। ये सामान्य तत्व उन्हें अपने मालिकों के खिलाफ संगठित और एकताबद्ध करते है। वे अब पर्याप्त कानूनी संरक्षण के लिए भी एकताबद्ध होने लगे हैं।

नगरीय श्रमिक वर्ग का एक बडा वर्ग औद्योगिक श्रमिकों का है। औद्योगिक श्रमिकों और मालिकों के बीच बराबर झगड़े होते रहते है। अधिक वेतन, काम के अच्छे हालातों, बोनस इत्यादि मुद्दों को लेकर औद्योगिक संघर्ष होते है। इन संघर्षो या झगड़ों ने अब संगठित विरोध या आंदोलन का रूप ले लिया है। श्रमिक अपना विरोध हड़ताल, धीमी गति से काम करने का अभियान चलाकर, घेराव, प्रदर्शन इत्यादि से किया करते है। ये संगठित विरोध नगरीय श्रमिक वर्ग के ट्रेड यूनियन और श्रमिक आंदोलनों के अभिन्न अंग रहे है। इस इकाई के अगले भाग में हम आपको इन पहलुओं पर विस्तार से जानकारी देंगे।

संक्षेप में भारतीय नगरीय श्रमिक वर्ग की निम्न विशेषताएं हैं जो अन्य देशों के श्रमिकों से उन्हें अलग करती हैं।[ccvi] मोटे रूप से भारतीय नगरीय श्रमिक की निम्न विशेषताएं हैं:—

1. गाँधी तथा रहन—सहन का निम्न स्तर
2. प्रवासी प्रवृत्ति—ग्रामीण क्षेत्रों से प्रवासित
3. जाति—संरचना में निम्न जातियों का अधिक प्रतिनिधित्व
4. एकता का अभाव
5. असंगठित क्षेत्रों में अधिक संख्या में कार्यरत
6. कार्यदशाएं बहुत ही खरब और असुरक्षित
7. अशिक्षित
8. तकनीकी शिक्षा का अभाव
9. भाग्यवादिता में अधिक विश्वास
10. न्यून गतिशीलता
11. कार्यस्थल से अनुपस्थिति की अधिक प्रवृत्ति
12. आवास की समस्याः गन्दी बस्तियों में आवास
13. दुर्व्यसन से ग्रसित जैसे मद्यपान, जुआ, वेश्यावृत्ति तथा
14. ऋण ग्रस्तता

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय नगरीय समाज स्तरीकरण की दृष्टि से पर्याप्त जटिलता लिये हुए हैं। सामाजिक एवं आार्थिक क्षेत्र में विभेद के परिणामस्वरूप इस जटिलता में और भी अधिक वृद्धि हुई है।

कार्ल मार्क्स ने इसे सर्वहारा वर्ग कहा है। इस श्रमिक वर्ग को हम तीन उप श्रेणियों में विभाजित कर सकते है[ccvii] :–

26.6 क्षेत्र के अनुसार श्रमिक वर्ग का विभाजन

(क) संगठित क्षेत्र के श्रमिक वर्ग

संगठित क्षेत्र में सबसे अधिक श्रमिक कारखानों में काम करते हैं तथा कारखाना अधिनियम 1948 के अन्तर्गत आते हैं। ये प्रमुखतः सूती मिलों, जूट मिलों, कोयला खानों, चाय बागानों, कागल उद्योग और रसायनिक कारखानों में कार्यरत हैं।

(ख) असंगठित श्रमिक वर्ग

हाल के कुछ वर्षों में नगरीय असंगठित क्षेत्र देश के विभिन्न भागों में बड़ी तेजी से उभरकर सामने आया है।

भारतीय नगरीय अर्थव्यवस्था के असंगठित क्षेत्र में देश की सकल नगरीय श्रम शक्ति का एक बहुत बड़ा भाग बसा हुआ है। ऐसा अनुमान है कि 45 प्रतिशत औद्योगिक श्रम शक्ति असंगठित क्षेत्र में लगी है। असंगठित औद्योगिक श्रतिकों के अलावा निर्माण श्रमिक, छोटे दुकानदार, सब्जी खाने का सामान व अखबार बेचने वाले, फेरी वाले, धोबी, सफाई करने वाले, घरेलू नाकर इत्यादि भी असंगठित क्षेत्र में गिने जाते है।

वे उद्योग जो कारखाना अधिनियम 1948 से परे हैं। जहां 20 से कम मजदूर कार्यरत होते हैं, जहां सेवा–सुरक्षा नहीं है। ये बीड़ी उद्योग, अभ्रक, स्लेट उद्योग, कांच की चूडित्रयां, चपडत्री उद्योग आदि में लगे होते हैं। एक अनुमान के अनुसार लगभग 45 प्रशिक्षण श्रमिक इस क्षेत्र में लगे हुए हैं।

(ग) अन्य क्षेत्र के श्रमिक वर्ग

वे श्रमिक जो निर्माण कार्यों, घरेलू नौकरों आदि के रूप में कार्य करते हैं। सब्जी वाले, अखबार बेंचने वाले, फेरी वाले, रिक्शा वाले आदि को भी इसी श्रेणी में रखा जाता है। इन्हें अनियमित मजदूरी मिलती है एवं इनकी आर्थक सिति बहुत निम्न होती है। ये मुश्किल से ही अपनी आजीविका चला पाते हैं।

26.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. एन्थोनी गिडेन्स के त्रिवर्गीय प्रारूप में शामिल नहीं है–

   क. उच्च वर्ग   ख. मध्यम वर्ग

   ग. निम्न वर्ग   घ. श्रमिक वर्ग

2. औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरुप भारतीय समाज पर पड़े प्रभावों में शामिल नहीं है–

क. औद्योगीकरण की प्रक्रिया का आरम्भ

ख. नये श्रमिक वर्ग का निर्माण और

ग. नई शिक्षा पद्धति की शुरूआत

घ. जाति व्यवस्था में परिवर्तन

3. आधुनिक औद्योगिक नगरीय भारत में नव अभिजात के स्वरूपों की संख्या है–

क. दो ख. चार

ग. पांच घ. छह

4. क्षेत्र के अनुसार श्रमिक वर्ग के विभाजन में शामिल नहीं है–

क. संगठित क्षेत्र के श्रमिक वर्ग

ख. असंगठित श्रमिक वर्ग

ग. नगरीय क्षेत्र के श्रमिक वर्ग

घ. अन्य क्षेत्र के श्रमिक वर्ग

26.8 उत्तर

1. घ
2. घ
3. ग
4. ग

26.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. देसाई ए.आर. सोशियल बैकग्राउण्ड ऑफ इण्डियन नेशनेलिज्म, पापुलर प्रकाशन, मुम्बई, 1987
2. डेविस, के. एण्ड मूर, डब्ल्यू, सम प्रिंसिपल्स ऑफ स्ट्रेटिफिकेशन्स, अमेरिकन सोशियोलॉजीकल रिव्यू, वोल्यूम, 1945
3. घुरये, जी.एस. कास्ट, क्लास एण्ड आक्यूपेशन, पापुलर बुक डिपो, मुम्बई, 1961
4. गौरे, एम.एस. इसीग्रेनट्स एण्ड नेबरहुडःदि ऑस्पक्ट्स ऑफ लाइफ इन मैट्रोपोलीटन सीटी, टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशियल साइन्स मुम्बई, 1970
5. मिश्रा, बीवी. दि इण्डियन मिडिलक्लासेस, देयर ग्रोथ इन मॉर्डन टाइम्स, ऑक्सफोर्ड, यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1978

6. गोल्डन्स, ए. डब्ल्यू. द फ्यूचर ऑफ इंटलैक्चुअल्स एण्ड दि राइज ऑफ दि न्यू क्लास, मैकमिलन, लंदन, 0979
7. बाटोमोर, टी.बी. इलीट एण्ड सोसायटी, पैग्विन बुक्स, हारमोन्डसवर्थ, 1956
8. रामास्वामी, ई.ए. एण्ड रामास्वामी, यू: इण्डस्ट्री एण्ड लेबरः एन इण्ट्रोडक्शन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेसनई दिल्ली, 1981
9. राव, एम. एस. (संपादक): अरबन सोशियोलोजी इन इण्डिया, ओरियन्ट लोंगमन, नई दिल्ली, 1974
10. शर्मा के. एल.: सोशियल स्टे्टीफिकेशन इन इण्डिया, मनोहर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986
11. ट्यूमिन एम. एम. सोशियल स्ट्रेीफिकेशन, दि फोर्म्स एण्ड फंकशन्स ऑफ इनइक्वेलिटी, प्रिंट्सि हॉल, न्यूजर्सी, 1967
12. योगेन्द्र सिंह, सोशियल स्ट्रेटिफिकेशन एण्ड चेन्ज इन इण्डिया, मनोहर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1974
13. राबर्ट लिण्ड एण्ड हेलन, मिडिल टाउन, हारकोर्ट ब्रेस, न्यूयार्क, 1929
14. वाइन्स, डब्ल्यू. लॉयडः यांकीसिटी, न्यूहैवन, कॉन, 1942
15. गीडिंग्स, एन्थोनी, सोशियोलोजी, पोलिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 1989
16. हरलम्बोस, एम. सोशियोलोजी, थीम्स एण्ड परस्पैक्टिव, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू दिल्ली, 1989
17. केतकर, एस. वी., हिस्ट्री ऑफ कास्ट इन इण्डिया, इथाका , न्यूयार्क, 1909
18. योगेश अटल, द वेन्जिंग फ्रंटीयर्स ऑफ कास्ट, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1968

[i] डॉ० हरिश्चन्द्र उप्रेती, डॉ रामेश्वर लाल सैनी, ष्नगरीय समाजशास्त्रष्, राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2003

[ii] वही

[iii] वही

[vi] वही

[v] वही

[vi] समाजिक स्तरीकरण, ईएसओ–04, इग्नू

[vii] डॉ० हरिश्चन्द्र उप्रेती, डॉ रामेश्वर लाल सैनी, ष्नगरीय समाजशास्त्रष्, राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2003

[viii] वही

इकाई–27

नगरीय वर्ग संरचना–II : मध्यम वर्ग

इकाई की रूपरेखा

27.1 उद्देश्य

27.2 प्रस्तावना

27.3 मध्यम वर्ग

27.4 मध्यम वर्ग के संबंध में मार्क्स, बॉटोमोर और कोल के विचार

27.5 मध्यम वर्ग के प्रकार

27.6 नवीन भारतीय सम्भ्रन्त वर्ग एवं मध्यम वर्ग का उदय

27.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

27.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

27.1 उद्देश्य

इस इकाई को अध्ययन के बाद आप–

1. नगरीय समाजों में माध्यम वर्ग की अवधारणा को भलीभांति समझ पाएंगे।
2. मध्यम वर्ग के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के विचारों से अवगत हो पाएंगे।
3. मध्यम वर्ग के प्राचीन एवं नवीन प्रकारों से अवगत हो पाएंगे।

27.2 प्रस्तावना

उच्च वर्ग व निम्न वर्ग के मध्य पाया जाने वाला वर्ग मध्य वर्ग कहलाता है। यह वर्ग सदैव उच्च वर्ग में शामिल होने को प्रयासरत रहता है। इसकी आर्थिक स्थिति ऐसी होती है की यह सामान्य जीवन की लगभग हर जरूरतों को आसानी से पूरा कर लेता है। भारत जैसे विकासशील देशों में इसकी आबादी सर्वाधिक होती है।

27.3 मध्यम वर्ग

आधुनिक औद्योगिक नगरीय समाजों में कार्ल मार्क्स के द्वि–वर्गीय प्रारूप की प्रासंगिकता पर प्रश्नचिनह लगाते हुए गिडेन्स ने त्रि–वर्गीय प्रारूप दिया। वारनर ने यांकीसिटी' 'के अध्ययन में छः विभिन्न वर्गों की पहचान करते हुए उनहें तीन समूहों में वर्गीकृत किया। इन सभी समाजशास्त्रियों ने विशेषकर नगरीय समाजों में मध्यम वर्गों के अस्तित्व व विस्तार की बात को स्वीकारा है और मध्यम वर्ग को आधुनिक औद्योगिक नगरीय समाजों का एक महत्वपूर्ण लक्षण माना है।

इसका पिछले चार दशकों में लगातार विस्तार हो रहा है। इस वर्ग का सथान वास्तव में उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व के आधार पर उच्च वर्ग और श्रम–शक्ति के आधार पर निम्न वर्ग के बीच में है। इसमें सफदपोश कर्मचारी, व्यवसायी, तकनीशियन, प्रबंधक, शिक्षाविद, वैज्ञानिक, डॉक्टर, वकील, दुकानदार आदि शामिल हैं।

आधुनिक समाज में सामाजिक जीवन का वर्गीकरण व्यापार, वाणिज्य, परिवहन, संचार, प्रबंध, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के पर्याप्त विकसित पद्वति के आधार पर किया गया है। व्यापार, वाणिज्य, उत्पादन, वितरण, परिवहन, शिक्षा, राज्य प्रबंध और अन्य क्षेत्रों में लगे उद्यमों का प्रशासन और प्रबंध विभिन्न प्रकार के कार्मिकों के द्वारा किया जाता है। शहरी क्षेत्रों की आबादी में प्रमुखतया, सफेदपोश कर्मचारी, तकनीशियन, पर्यवेक्षक, शिक्षाविद् इंजीनियर, अधिकारी वर्ग, प्रबंधक, वैज्ञानिक, डॉक्टर, वकील, अन्य व्यवसायों में लगे व्यक्ति, विक्रेता,व्यापारी, दुकानदार आदि शामिल है। इन व्यवसायों और पेशों में लगे व्यक्तियों को मध्यम वर्ग माना जाता हैं।[ccviii]

मध्यम वर्ग का प्रदुर्भाव उन्नत औद्योगिक समाजों के सामाजिक जीवन का विशिष्ट लक्षण है। भारत जैसे विकासशील समाजों का वर्ग संरचना पर भी मध्यम वर्ग का बढ़हा हुआ बर्चस्व देखा गया है उन्नत और आधुनिक विकाशील समाजों में प्रौद्योगिकीय और आर्थिक विकास के साथ–साथ मध्यम वर्ग की प्रचुरता और प्रधानता देखी गई है।

27.4 मध्यम वर्ग के संबंध में मार्क्स, बॉटोमोर और कोल के विचार

मार्क्स ने इस बात पर बल दिया है कि आधुनिक वर्ग संघर्ष में मुख्य पक्ष–पोषक सर्वहारा और पूंजीपति वर्ग है। वह समाज के दोहरे विभाजन की व्यवसीा करते है। परंतु मध्यम वर्ग का उद्‌भव विश्लेषणात्मक और अनुभव जन्य वास्तविकता के रूप में हुआ है।

टी.बी. बॉटोमोर ने समाज को चौमुखी विभाजन का उल्लेख किया है। उनके अनुसार

1. उच्च वर्ग (उत्पादन साधनों के मालिक),
2. मध्यम वर्ग (सफेदपोश कर्मचारी और व्यावसायिक)
3. श्रमिक वर्ग (औद्योगिक श्रमिक) और
4. कृषक वर्ग (जो मुख्य रूप से अपनी आजीविका के लिए कृषि पर निर्भर रहते है) मुख्य हैं।

जी.डी. कोल ने मार्क्स के सिद्धांत का आलोचनात्मक विश्लेषण करने के बाद बताया है कि मार्क्सवादी सिद्धांत में वर्गों और व्यवसायिकों के बीच अंतर नहीं किया गया है। बल्कि उन्हें एक साथ गिनाया गया है। उनके अनुसार मार्क्स के विश्लेषण में मध्यम वर्ग अवशिष्ट श्रेणी है और इस प्रकार मार्क्स ने इस तथ्य की अवहेलना की है कि औद्योगिक पद्वति मध्यम वर्ग के उदय को प्रोत्साहित कर रही है, जिसमें प्रशासक, प्रबंधक, व्यावसायिक आदि शामिल है। कोल के अनुसार, आज की वर्ग संरचना में मध्यम वर्ग एक वास्तविकता है।

मध्यम वर्ग के संबंध में गोल्डनर और जेटलिन के विचार

उन्नतम औद्योगिक समाज में मध्यम वर्ग एक नया वर्ग है। इस वर्ग के अधिकांश सदस्य तकनीकी बुद्धिजीवी वर्ग के रूप में कार्य करते है और उत्पादन प्रणाली में क्रान्ति लाते है।

गोल्डनर का मानना है कि इस नये वर्ग ने उन्त अर्थव्यवस्थ में अपनी अधिनस्थ स्थिति को स्वीकार कर लिया है। यह नया वर्ग अपने ज्ञान एवं विशेषज्ञता के कारण हमेशा धनिक वर्ग पर हावी रहा हैं।[ccix]

गोल्डनेर के अनुसार, इस नए वर्ग के उन्नतम अर्थव्यवस्था में अपनी अधीनस्थ स्थिति स्वीकार की है, क्योंकि यह उसके वस्तुगत और आदर्श हित के अनुरूप है। इस नए वर्ग को उत्पादन शक्तियों और प्रशासन माध्यमों का तकनीकी ज्ञान होने के कारण उत्पादन प्रणाली पर इसका पहले से ही पर्याप्त नियंत्रण है और इस प्रकार इस शक्ति के आधार पर वह अपने हितों की रक्षा करता है। नया वर्गअपने ज्ञान और विशेषता के कारण हमेशा धनी वर्ग पर हावी रहा है जो उद्योगों के स्वामी है। इस संदर्भ में मोरिस जेटलिन ने उल्लेख किया है कि स्वामित्ववास्तव में निष्क्रिय हो गया है और नियंत्रण व्यावसायिक प्रबंध के हाल चला गया है। उन्होंने यह भी कहा है कि गैर–स्वामित्व प्रबंधक अब धनी पूंजीपतयों का स्थान ले रहे है।[ccx]

मोरिस जेटलिन ने कहा है कि आज स्वामी वास्तव में निश्क्रय हो गया है और नियंत्रण व्यावसायिक प्रबंधकों के हाथों में चला गया है तथा गैर–स्वामित्व प्रबंधक अब धनी पूंजीपतियों का स्थान ले रहे हैं।[ccxi]

वारनर ने मध्यम वर्ग के दो उपभाग किये हैं–

1. उच्च–मध्यम वर्ग, जिसमें डॉक्टर, वकील, व्यापारी, व्यवसायी, अादि को रखा है।
2. निम्न–मध्यम वर्ग में सफेदपोश कर्मचारियों जैसे लिपिक आदि को रखा है।[ccxii]

उन्होंने यांकीसिटी के अध्ययन में छह भिन्न–भिन्न वर्गों की पहचान की है, वे निम्नलिखित हैं

1. **उच्च वर्ग :** इस वर्ग के सदस्य धनी है परंतु वे अपनी पारिवारिक पृष्ठभूमि के कारण ही इस वर्ग के सदस्य हैं
2. **निम्न उच्च वर्ग :** वेधनी हे, परंतु वे अभिजात पृष्ठभूमि से नहीं है बल्कि तब धनाड्य है।
3. **उच्च मध्यम वर्ग :** उच्च मध्यम स्तर के व्यक्ति उच्च आय वाले शिक्षित व्यावसायिक है, जैसे डॉक्टर, वकील, व्यापारी आदि।
4. **निम्न मध्यम वर्ग :** वे मुख्य रूप से सफेदपोश कर्मचारी है, जैसे लिपिक स्तर का कर्मचारी, सचिव, बैंक कर्मचारी आदि।
5. **उच्च निम्न वर्ग :** वे शारीरिक कार्य करने वाले कर्मचारी है, जैसे कारखानों के श्रमिक आदि।

6. **निम्न निम्न वर्ग :** वे गरीब है और समुदाय के सदस्यों से अलग–अलग है।

इस प्रकार वर्ग 1 और 2 उच्च स्तर के है, वर्ग 3 और 4 मध्य, तथा वर्ग 5 और 6 सामाजिक संरचना के लिम्न स्तर के वर्ग है। यही बहुत महत्वपूर्ण बात यह है कि मध्यम वर्ग सामुदायिक जीवन में सामाजिक वास्तविकता के रूप में उभरा है।

भारत में मध्यम वर्ग का विकास अंग्रेजी शासनकाल की देन है और इस कथन से ए.आर. देसाई भी सहमत हैं, जिन्होंने अपनी पुस्तक में इसका वर्णन किया है।

बी.वी. मिश्रा ने अपनी पुस्तक 'दि इण्डियन मिडिल क्लासेज : देयर ग्रोथ इन मॉर्डन टाइम्स' में स्पष्ट किया है कि अंग्रेजों के भारत में आगमन से पहले ही पूंजीवाद एवं मध्यम वर्ग के विकास की र्प्यापत संभावनाएं भारतीय समाज में मौजूद थी लेकिन जाति व्यवस्था की कठोरता और अधिकारी–तंत्र की निरंकुशता से इनका विकास नहीं हो पाया।

औपनिवेशिक भारत में अंग्रेजों की आर्थिक और शैक्षिक नीतियों के फलस्वरूप मध्यम वर्ग का विकास हुआ तथा नगरीकरण एवं औद्योगीकरण ने इसमें उत्प्रेरक का काम किया।

बी. वी. मिश्रा ने भारतीय मध्यम वर्ग में मुख्य रूप से निम्न समूहों को रखा है[ccxiii]–

1. व्यापारीः– आधुनिक व्यापारी फर्मों के सक्रिय मालक और एजेंट।
2. वेतनभोगी कर्मचारीः– प्रबंधक, निरीक्षक, र्प्यवेक्षक, तकनीकी स्टाफ आदि।
3. व्यापारी संघों, राजनीतिक, समाजसेवी, सांस्कृतिक, शैक्षिक आदि निकायों के उच्च वेतनभोगी अधिकारी आदि।
4. अवैतनिक कर्मचारी
5. व्यावसायिक अर्थात् वकील, डॉक्टर, प्रोफेसर, पत्रकार, धर्माचार्य आदि।
6. सम्पन्न किसान
7. स्थापित दुकानदार, लेखाकार, प्रबंधक आदि
8. ग्रामीण उद्यमी, भू–संपदा के वेतनभोगी प्रबंधक
9. विश्वविद्यालय अथवा समाज स्तर पर पढ़ने वाले पूर्णकालिक विद्यार्थी
10. क्लर्क, सहायक और लिपिकीय कार्य करने वाले कर्मचारी
11. उच्च माध्यमिक स्कूलों के अध्यापक, राजनीतिक कार्यकर्ता

27.5 मध्यम वर्ग के प्रकार

मध्यम वर्ग के सदस्यों को व्यवसाय, आय, प्रतिष्ठा और सुविधाओं के आधार पर वर्गीकृत किया जा सकता है। वारनर ने मध्यम वर्ग के दो उपवर्ग बतलाए हैं। प्रथम, उच्च मध्यम वर्ग जिसमें डॉक्टर, वकील, प्राध्यापक को रखा जा

सकता है। द्वितीय, निम्न–मध्यम वर्ग इसमें सफेदपोश कर्मचारी, लिपिक आदि को रखा जा सकता है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से मध्यम वर्ग को दो भागों में वर्गीकृत किया गया है:–

1. पुराना मध्यम वर्ग

पुराने मध्यम वर्ग में छोटे व्यापारी, दुकानदारों, ठेकेदारों, स्वतंत्र व्यवसायों, जैसे–डॉक्टर, वकील, चार्टड एकांउन्टेन्ट आदि को रखा जा सकता है। यह इस दृष्टि से पुराना है कि पूंजीवाद के जनमसे ही अस्तित्व में रहा तथा अब भी यह बढ़ रहा है और विकसित हो रहा है।[ccxiv]

2. नया मध्यम वर्ग

यह आधुनिक समय के पूंजीवादी और समाजवादी समाजों में प्रौद्योगिकी के विकास के साथ अस्तित्व में आया। इसमें प्रौद्योगिकीविदों, वैज्ञानिकों, प्रबंधकों, कम्प्यूटर इंजीनियरों को रखा जा सकता है। नये मध्यम वर्ग का विस्तार पिछले दो दशकों में बहुत तेजी से हुआ।[ccxv]

एक अन्य वर्गीकरण के आधार पर मध्यम वर्ग के तीन उपवर्ग हो सकते हैं[ccxvi]:–

1. **उच्च–मध्यम वर्ग**
2. **मध्यम–मध्यम वर्ग**
3. **निम्न–मध्यम वर्ग**

ऐसा माना जात है कि भारत में आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन में इस वृहत् मध्यम वर्ग की बड़ी निर्णायक भूमिका रही है।

27.6 नवीन भारतीय सम्भ्रान्त वर्ग एवं मध्यम वर्ग का उदय

भारतीय समाज के समाजशास्त्रीय अध्ययन में सम्भ्रान्त (अभिजात्य) वर्ग एवं मध्यम वर्ग की भूमिका का अध्ययनक्षेत्र अत्यधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। सम्भ्रान्त को परिभाषित करते हुए कहा जा सकता है कि उच्च अथवा सम्भ्रानत वर्ग किसी समाज–व्यवस्था में ऐसे लोगों का समूह अथवा वर्ग है जिन्हें अनेक सुविधाएँ प्राप्त होती हैं तथा समाज में जिन्हें प्रभुत्व का स्तर प्राप्त होता है। सम्भ्रान्त वर्ग का अस्तित्व भिन्न–भिन्न सामाजिक सन्दर्भों एवं विश्लेषण के विभिन्न स्तरों पर पाया जाता है: हम सत्ता पर अधिकार प्राप्त वर्ग को समग्र रूप से सम्भ्रान्त वर्ग का दर्जा दे सकते है, वहीं हम अत्यधिक शक्तिशाली समूहों को भी सम्भ्रान्त वर्ग के रूप में मान सकते हैं।

राजनैतिक दर्शन एवं समाजशास्त्र के अन्तर्गत सम्भ्रान्त वर्ग की अवधारणा का केन्द्रीय मानते हुए राजनैतिक एवं सामाजिक संगठन के सिद्धान्त निर्मित करने के अनेक प्रयास किए गए है। किसी समाज के सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्र (Space) में सम्भ्रान्त वर्ग क्रियाशील होता है सम्भ्रान्त वर्ग पर किए जाने वाले किसी भी अध्ययन में इस सन्दर्भ में शोध किया जाता है कि इस वग्र में नये सदस्यों की भर्ती कैसे होती है, समान उद्देश्यों हेतु सम्भ्रान्त वर्ग किस हद तक एकता के सूत्र में बँध सकता है तथा भिन्न–भिन्न सम्भ्रान्त लोग किस प्रकार अपने प्रयासों को एकरूप देकर समान हितों का संवर्धन कर ससकते हैं। प्रतिनिधि लोकतंत्रों

(representative democracies) की राजनैतिक व्यवस्थाओं में अनके प्रकार के सम्भ्रान्त वर्गों में शक्ति का बंटवारा कर दिया जाता है, जो विशेष मुद्दों के सन्दर्भ में एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा भी करते हैं, यद्यपि मौलिक मुद्दों के संदर्भ में, जैसे– यह प्रश्न कि असम्भ्रान्त वर्गों को प्रतिस्पर्धा में प्रवेश करने दिया जाय अथवा नहीं, आदि, वे एकजुट हो जाते हैं। समाजशास्त्री सी.राईट मिल्स कहते हैं कि सैनिक, आर्थिक एवं राजनैतिक संस्थाओं के शिखर पर शक्तिशाली सम्भ्रान्त वर्ग का प्रभुत्व होता है जो शक्ति के एक पद से दूसरे पद पर स्वतंत्रतापूर्वक चले जाते हैं तथा अन्य सामान्य संस्थाओं एवं पाश्रिक विशेषताओं यथा–शिक्षा, पारिवारिक संपर्क आदि का उपभोग करते हैं।

'मध्यम वर्ग' का अध्ययन करने पर हम पाते है कि यह सिद्धांत रूप में अर्थव्यवस्था, समाज एवं राजनीति के संगम पर पाया जाता है। किन्तु मार्क्सवाद के अनुसार 'वर्ग' एक अवधारणात्मक सिद्धांत है जिसके द्वारा समाज को विशिष्ट समूहों में बांटा जा सकता है। उनकी द्विवर्गीय व्यवस्था–बुर्जुआ अथवा पूँजीवादी वर्ग एवं सर्वहारा श्रमिक वर्ग आर्थिक एवं सामाजिक सिद्धांत में आदर्श स्थापित करने का एक महत्वपूर्ण साधन हो सकता है। किन्तु 'मध्यस्त' अथवा मध्यम वर्ग सबसे अधिक महत्वपूर्ण अध्रुवीकृत (non-polar) वर्ग रहा है। अतः मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार मध्यमवर्ग की मध्यमता का अर्थ मुख्यतः दोनों वर्गों की मार्क्सवादी द्विध्रुवीय योजना के संदर्भ में लिया जाता है।

एन्टोनियों ग्राम्सी ने मध्यम वर्ग एवं आधुनिक पूँजीवादी समाज में उसकी भूमिका के संदर्भ में लिया जाता है। एन्टोनियों ग्राम्सी ने मध्यम वर्ग एवं आधुनिक पूँजीवादी समाज में उसकी भूमिका के संदर्भ में रचनात्मक मार्क्सवादी विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

मध्यम वर्ग पर डी.पी. मुखर्जी, (1948) तथा उसके बाद बी. बी. मिश्र (1961) व पवन वर्मा के अग्रणी अध्ययनों को भारत में मध्यम वर्ग पर किए गए अध्ययनों में सर्वोत्कृष्ट माना जा सकता है। किन्तु सत्य यह है कि भारत में दिन–प्रतिदिन प्रयोग किये जाने वाले शब्द 'मध्यम वर्ग' का अर्थ प्रतीकात्मक अधिक है तथा वास्तविक स्तर पर कम। जब हम भारत में सम्भ्रान्त वर्ग के निर्माण की प्रक्रिया एवं उनके क्रमिक विकास पर दृष्टि डालते है, तो नवीन मध्यम वर्ग (New Middle Class) हमारे समक्ष उभर कर सामने आता है।

किसी समाज की सम्भ्रांत संरचना (Elite Structure) केवल उसके आधारभूत मूल्यों को ही प्रस्तुत नहीं करती बल्कि यह भी स्पष्ट करती है कि ये मूल्य किसी समाज की शक्ति–संरचना एवं निर्णय करने की प्रक्रिया में किस सीमा तक ठोस भूमिका निभाते हैं। ''सम्भ्रान्त वर्ग जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी भूमिका द्वारा, जो या तो उन्हें प्रदत्त प्रदान की जाती है, जैसे कि एक पारम्परिक समाज में, अथवा अपने उत्कृष्ट कार्यों द्वारा उसे प्राप्त करते हैं। जो कि सापेक्ष रूप से आधुनिक समाज का एक सिद्धांत है, अपने विशिष्ट मूल्यों के स्तर का प्रतिनिधित्व करते है। जिस प्रकार से मूल्यात्मक परिणाम (valued outcomes) एवं संस्थाएँ अनेक प्रकार की हो सकती हैं, उसी प्रकार सम्भ्रान्त वर्ग भी भिन्न–भिन्न प्रकार के हो सकते है'' (योगेन्द्र सिंह, 1996)। पारम्परिक भारत में सम्भ्रांत वर्ग का सामाजिक ढाँचा परम्परा के केन्द्रीय मूल्यों– पदानुक्रम (hierarchy), समग्रतावाद (holism) एवं निरंतरता के सिद्धान्तों पर आधारित था। इस प्रकार की परम्परा में राजा एवं पुजारी की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण थी। ये दोनों ही भूमिकाएँ जाति–व्यवस्था से जन्मी थीं जिसने सम्भ्रान्त वर्ग के ढाँचे को सांस्कृतिक एवं

नैतिक संदर्भ प्रदान किया। ये दोनों ही भूमिकाएँ ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों द्वारा अंगीकार की गईं।

'मुस्लिम शासन' के प्रादुर्भाव के साथ ही ''सम्भ्रान्त वर्गीय ढाँचे का सामन्ती रूप और भी मजबूती हो गया।'' अपने हिन्दू सहभागियों के साथ–साथ मुस्लिम सामन्त शक्ति–प्रदर्शन करते रहे तथा काजी एवं मुफती के धार्मिक क्षेत्र का अस्तित्व हिन्दू धार्मिक क्षेत्र के साथ–साथ विद्यमान रहा। अतः मुस्लिम शासन ने सम्पूर्ण व्यवसीा परिवर्तित करने के बजाय मात्र सम्भ्रान्त वर्गीय व्यक्तियों अथवा विभागों को ही स्थानान्तरित किया। यह मात्र एक ही व्यवस्था के अन्तर्गत सम्भ्रान्त लोगों के एक वर्ग द्वारा दूसरे सम्भ्रान्त वर्ग का स्थान ले लेना है न कि सम्भ्रान्त वर्ग की संरचना अथवा प्राकार्यों में किसी प्रकार का अन्तर।

अंग्रेजी शासन के प्रादुर्भाव के साथ ही एक नवीन प्रकार का सम्भ्रान्त वर्ग उभर कर सामने आया। शिक्षा के धर्मनिरपेक्षीकरण (Secularization) की आवश्यकता महसूस की गई। साथ ही शिक्षा की एक नवीन व्यवस्था आरम्भ की गई जिसने भारतीय समाज के सभी वर्गो, चाहे वे किसी भी जाति, धर्म अथवा लिंग के क्यों न हों, को शिक्षा प्राप्त करने का अवसर दिया गया। ''इस नवीन शिक्षा व्यवस्था की विषय–सामग्री एवं संगठन प्रक्रिया उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों की पुरानी एवं पारम्परिक शिक्षा व्यवस्था से भिन्न थी। अन्य कारकों के साथ–साथइस नवीन शिक्षा–व्यवस्था ने भी एक नवीन बुद्धिजीवी वर्ग (intellectual class) को जन्म दिया। ज्ञान के संदर्भ में यह नवीन बुद्धिजीवी वर्ग प्राचीन बौद्धिक वर्ग से भिन्न था''(आई0पी0देसाई, 1965)। इस नवीन ज्ञान के दो पक्ष थे– औपचारिक (formal) एवं वास्तविक (substantive)। आई0पी0 देसाई का कहना है कि संसार को देखने का नजरिया अथवा वैज्ञानिक प्रवृत्ति ही औपचारिक पक्ष है। वास्तविक पक्ष के अन्तर्गत प्रौद्योगिकी, अर्थव्यवस्था, शासन व्यवस्था एवं समाज के संगठन से सम्बन्धित मान्यताएँ, मूल्य, दृष्टिकोण एवं विचार समाहित होते हैं। नवीन सम्भ्रान्त वर्ग ने, जो गाँवों से सम्बन्धित न होकर शहरी पृष्ठभूमि से सम्बन्धित है, पत्रकारिता, वकालत, अध्यापन, समाज–सेवा आदि कार्यों को व्यवसाय रूप में अपनाया । इस नवीन सम्भ्रान्त वर्ग ने, भारत में एक नवीन मध्यम वर्ग की रचना की एवं प्रशासना, न्यायपालिका एवं अध्यापन–व्यवसाय के विस्तार के फलस्वरूप विकसित अवस्था में आ गया। पश्चिमीकृत मध्यम वर्ग के विकास के साथ–साथ भारत में सम्भ्रान्त राजनेताओं के वर्ग का भी उदय हुआ। इसका जन्म उच्च जातियों के बीच उच्च शिक्षा के विस्तार के फलस्वरूप हुआ।

योगेन्द्र सिंह कहते हैं कि आरभिक बीसवीं शताब्दी का सम्भ्रान्त वर्ग एक सम्मिश्र समूह (composite group) के रूप में था। नवीन सम्भ्रान्त वर्ग ने अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण, सामाजिक सुधार, समानतावाद की नीति, सामाजिक न्याय, सार्वभौमिक नागरिक अधिकार, जाति–निर्बलता के उन्मूलन तथा स्त्रियों एवं पिछड़ी वर्गों के कल्याण एवं समान अधिकारों की माँग उठाई। इस आह्वान ने एक ऐसी मूल्य व्यवस्था का निर्माण किया जो तार्किक रूप से पदानुक्रम, समग्रतावाद एवं निरन्तरवाद का`अपने में समाहित करने वाले भारतीय मूल्यों से बहुत अधिक भिन्न थी। यह मूल्य व्यवस्था आधुनिक पश्चिमीकृत विश्वदृष्टि के बहुत समीप थी। किन्तु तब भी ऐसा देखने में आया कि ये सम्भ्रान्त वर्ग भारतीय परम्परा की ओर भी आकर्षित था तथा इसके अनिवार्य तत्वों का संरक्षण करना चाहता था सरंचनात्मक रूप से यह नवीन सम्भ्रान्त वर्ग मुख्यतः मध्यम वर्गीय था, इसने भिन्न–भिन्न प्रकार के व्यवसाय अपनाए थे तथा मुख्यतः नगरीय पृष्ठभूमि से सम्बन्धित था।

स्वतंत्रता के बाद भारत में एक नवीन सम्भ्रान्त वर्गीय ढाँचा उदित हुआ। सम्भ्रान्त वर्गीय ढाँचे में परिवर्तन के मुख्य बिन्दुओं की ओर संकेत करते हुए सिंह एक सुनियोजित कार्य–योजना प्रस्तुत करते हैं–

1. ग्रामीण क्षेत्रों के राजनैतिक शक्ति सम्पन्न सम्भ्रान्त वर्ग का बढ़ता प्रीााव तथा भिन्न–भिन्न व्यवसायों से सम्बन्धित सम्भ्रान्तों के प्रभाव में होने वाली कमी।

2. सम्भ्रान्त वर्गीय ढाँचे में आने वाला विशाल अन्तर तथा मध्यम वर्गीय लोगों की संख्या में दिन–प्रतिदिन होती वृद्धि

3. राजनैतिक–सांस्कृतिक विचारधाराओं से सम्बन्धित क्षेत्रीय तथा हितसमूह उन्मुख (regional and interest group oriented) उद्देश्यों पर अत्यधिक बल दिया जाना, एवं

4. सम्भ्रान्त वर्ग पर केवल उच्च जातियों के एकाधिकार की समाप्ति एवं उसका लोकतंत्रीकरण।

निर्णय करने की प्रक्रिया के उच्चतम स्तरों पर निर्णायकों के सामाजिक गठन (social composition) में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। पिछड़े वर्गों, विशेष रूप से अनुसूचित जातियों एवं अन्य पिछड़े वर्गों, ने नौकरशाही एवं राजनीति के नेतृत्व में महत्वपूर्ण भूमिका निभानी प्रारम्भ कर दी। सतीश देशपाण्डे (2003) का कहना है कि स्वतंत्रता के पश्चात्उदित होने वाला मध्यम वर्ग मुख्यतः विकास शासन (development regime) का उत्पाद था। वैश्वीकरण की प्रक्रिया से लाभ उठाने वाला भी यही है।

मध्यम वर्ग, अर्थात् नवीन सम्भ्रान्त वर्ग, आज किसी भी तरह समरूपीय (homogenous) नहीं माना जा सकता। इसके अन्तर्गत विभिन्न जातियों, धार्मिक समुदायों एवं व्यवसायों के लोग आते हैं। इसका विस्तार नगरों से लेकर ग्रामीण क्षेत्रों तक है। यह उपभोक्तावाद के मकड़जाल में फँसा हुआ है। दिन–प्रतिदिन इसकी 'आवश्यकताएँ बढ़ती जा रही हैं तथा बाजार की शक्तियों इसका फायदा उठा रही हैं। यह वर्ग जल्दी से जल्दी अत्यधिक समृद्ध बनकर 'उच्च वर्गों' की कोटि में प्रवेश करना चाहता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह कभ–कभी आसान लेकिन गतल तरीकों को भी अपनाने से नहीं चूकता। अपनी आकांक्षओं की पूर्ति के लिए यह इतना उतावला होता है कि इसके लिए वह अपराध व भ्रष्टाचारका सहारा लेने से भी नहीं हिचकिचाता। इस गतिशीलता के लिए नवीन आर्थिक नीति, वैश्वीकरण, एवं नवीन सूचना–प्रौद्योगिकी ने नए रास्ते खोल दिए हैं। उद्देश्य प्राप्ति के लिए यह वर्ग किसी भी प्रकार के समझौते करने से नहीं हिचकता। तीन–चार दशकों पूर्व तक भारतीय मध्यम वर्ग अपने कर्तव्यों के प्रति ईमानदार था तथा अपने सीमित साधन–युक्त जीवन में प्रसन्न रहने का प्रयास करते हुए सामाजिक परिवर्तन की धुरी के रूप में जाना जाता था। किन्तु आज ऐसी स्थिति नहीं है। आज का यथास्थितिवादी विरोधाभासी चरित्र रखने वाला, पश्चिमी रंग में रंगा मध्यम वर्ग अब सामाजिक परिवर्तन का वाहक नहीं माना जाता। यहाँ तक कि इसकी 'आधुनिकता' एवं 'पश्चिमीकरण' भी एक छलावा सा लगता है। आज का अवसरवादी, आत्म–केन्द्रित, भ्रष्ट एव ंउपभोक्तावादी मध्यम वर्ग सन् 1950 एवं 1960 के दशकों के माध्यमवर्ग से के दशकों के मध्यमवर्ग से बिल्कुल भिन्न है। न जाने इसके नैतिक मूल्य कहाँ गायब हो गए हैं। जाति एवं धर्म को घसीटकर राजनीति में लाने वाले राजनेता एवं राजनीतिक दल भी लोगों का ध्यान राष्ट्रनिर्माण के मुख्य मुद्दे से भटकाने के जिम्मेदार हैं। मध्यमवर्ग को

'अश्लील चरित्रहीन' बनाने के जिम्मेदार भी वही हैं। सम्भवतः यही कारण है कि भारतीय जनसंख्या का सबसे अधिक साम्प्रदायिक वर्ग नगरीय पृष्ठभूमि का शिक्षित मध्यम वर्ग ही है।

27.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. टी.बी. बॉटोमोर ने मध्यम वर्ग के अंतर्गत रखा है–

    क. उत्पादन साधनों के मालिक

    ख. सफेदपोश कर्मचारी और व्यावसायिक

    ग. औद्योगिक श्रमिक

    घ. कृषक वर्ग

2. वारनर ने मध्यम वर्ग के कितने उपभाग किये हैं–

    क. दो   ख. चार

    ग. पांच   घ. छह

3. पुस्तक 'दि इण्डियन मिडिल क्लासेजः देयर ग्रोथ इन मॉर्डन टाइम्स' के लेखक हैं–

    क. योगेन्द्र सिंह   ख. बी0 बी0 मिश्र

    ग. श्यामाचरण दुबे   घ. डी0 एन0 धनाग्रे

4. ऐतिहासिक दृष्टिकोण से मध्यम वर्ग को कितने भागों में वर्गीकृत किया गया है–

    क. दो   ख. चार

    ग. पांच   घ. छह

27.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. देसाई ए.आर. सोशियल बैकग्राउण्ड ऑफ इण्डियन नेशनेलिज्म, पापुलर प्रकाशन, मुम्बई, 1987
2. डेविस, के. एण्ड मूर, डब्ल्यू. सम प्रिंसिपल्स ऑफ स्ट्रेटिफिकेशन्स, अमेरिकन सोशियोलॉजीकल रिव्यू, वोल्यूम, 1945
3. घुरये, जी.एस. कास्ट, क्लास एण्ड आक्यूपेशन, पापुलर बुक डिपो, मुम्बई, 1961
4. गौरे, एम.एस. इसीग्रेनट्स एण्ड नेबरहुडःदि ऑस्पक्ट्स ऑफ लाइफ इन मैट्रोपोलीटन सीटी, टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशियल साइन्स मुम्बई, 1970
5. मिश्रा, बीवी. दि इण्डियन मिडिलक्लासेस, देयर ग्रोथ इन मॉर्डन टाइम्स, ऑक्सफोर्ड, यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1978
6. गोल्डन्स, ए. डब्ल्यू. द फ्यूचर ऑफ इंटलैक्चुअल्स एण्ड दि राइज ऑफ दि न्यू क्लास, मैकमिलन, लंदन, 0979

7. बाटोमोर, टी.बी. इलीट एण्ड सोसायटी, पैग्विन बुक्स, हारमोन्डसवर्थ, 1956
8. रामास्वामी, ई.ए. एण्ड रामास्वामी, यूः इण्डस्ट्री एण्ड लेबरः एन इण्ट्रोडक्शन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेसनई दिल्ली, 1981
9. राव, एम. एस. (संपादक): अरबन सोशियोलोजी इन इण्डिया, ओरियन्ट लोंगमन, नई दिल्ली, 1974
10. शर्मा के. एल.: सोशियल स्टेटीफिकेशन इन इण्डिया, मनोहर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986
11. ट्यूमिन एम. एम. सोशियल स्ट्रेीफिकेशन, दि फोर्म्स एण्ड फंकशन्स ऑफ इनइक्वेलिटी, प्रिंटि्स हॉल, न्यूजर्सी, 1967
12. योगेन्द्र सिंह, सोशियल स्ट्रेटिफिकेशन एण्ड चेन्ज इन इण्डिया, मनोहर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1974
13. राबर्ट लिण्ड एण्ड हेलन, मिडिल टाउन, हारकोर्ट ब्रेस, न्यूयार्क, 1929
14. वाइन्स, डब्ल्यू, लॉयडः यांकीसिटी, न्यूहैवन, कॉन, 1942
15. गीडिंग्स, एन्थोनी, सोशियोलोजी, पोलिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 1989
16. हरलम्बोस, एम. सोशियोलोजी, थीम्स एण्ड परस्पैक्टिव, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू दिल्ली, 1989
17. केतकर, एस. वी., हिस्ट्री ऑफ कास्ट इन इण्डिया, इथाका , न्यूयार्क, 1909
18. योगेश अटल, द वेन्जिंग फ्रंटीयर्स ऑफ कास्ट, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1968
19. डॉ0 हरिश्चन्द्र उप्रेती, डॉ रामेश्वर लाल सैनी, 'नगरीय समाजशास्त्र', राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2003

[i] समाजिक स्तरीकरण, ईएसओ–04, इग्नू

[ii] डॉ0 हरिश्चन्द्र उप्रेती, डॉ रामेश्वर लाल सैनी, 'नगरीय समाजशास्त्र', राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2003

[iii] समाजिक स्तरीकरण, ईएसओ–04, इग्नू

[iv] डॉ0 हरिश्चन्द्र उप्रेती, डॉ रामेश्वर लाल सैनी, 'नगरीय समाजशास्त्र', राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2003

[v] वही

[vi] वही

[vii] वही

[viii] वही

[xi] वही

इकाई–28

नगरीय वर्ग संरचना–II : उद्यमी वर्ग

इकाई की रूपरेखा

28.1 उद्‌देश्य

28.2 प्रस्तावना

28.3 उद्यमी वर्ग

28.4 उद्यमी की महत्वपूर्ण विशेषताएँ

28.5 भारत में उद्यमी वर्ग

28.6 भारत के प्रमुख उद्यमी समुदाय

28.7 भारत में उद्यम विकास

28.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

28.9 उत्तर

28.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

28.1 उद्‌देश्य

इस इकाई को अध्ययन के बाद आप–

1. उद्यमी वर्ग की अवधारणा के सम्बन्ध में जान पायेंगे।
2. उद्यमी वर्ग की विशेषताओं से परिचित होंगे।
3. भारत के उद्यमी वर्ग के बारे में जान पायेंगे।

28.2 प्रस्तावना

उद्यमी नगरीय औद्योगिक उत्पादन पद्वति के केन्द्रबिन्दु हैं जो औद्योगिक इकाई के मालिक ही नहीं प्रबंधक भी हैं। किसी भी समाज के आर्थिक विकास में उद्यमी वर्ग की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। समाज के युवा वर्ग में उद्यमशीलता और आर्थिक विकास भी उतनी ही तेजी से होगा। अर्थात् उद्यमशीलता और आर्थिक विकास में सकरात्मक सम्बन्ध है। अर्थशास्त्रियों के शास्त्रीय सिद्वान्तों में विकास में उद्यमी को कोई विशेष महत्व नहीं दिया गया है परन्तु अमेरिकी अर्थशास्त्रियों का मानना है कि वहां बडे निगमों के विकास के लिए उद्यमशील प्रतिभा ही जिम्मेदार है।

28.3 उद्यमी वर्ग

पूंजीपति एवं उद्यमी में यहां इस आधार पर अन्तर किया जा सकता है कि पूंजीपति के पास केवल धन होता है, जबकि उद्यमी उत्पादन का प्रमुख अभिकर्ता है। इस प्रकार उद्यमी वह व्यक्ति है जो व्यापार स्थापित करता है, उसका प्रबन्धन करता है और उसके जोखिमों को अपनाता है। जैसा कि पूर्व में ही स्पष्ट किया जा चुका है, भारत में उद्यमी वर्ग का उदय ब्रिटिश काल में हुआ। अध्ययन की सुविधा के लिए इस उद्यमी वर्ग को भी दो भागों में विभाजित किया जा सकता है[ccxvii]–

(1) शास्त्रीय या खानदानी उद्यमी वर्ग

(2) नव उद्यमी वर्ग

(1) शास्त्रीय या खानदानी उद्यमी वर्ग (धनाढ्य वर्ग)

19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सूती वस्त्र एवं लौह उद्योग की स्थापना के साथ इस वर्ग का उद्भव हुआ। इसमें पारसी समुदाय अग्रणी रहा। इसके बाद गुजरातियों और मारवाड़ियों की पहल से भारत के प्रथम उद्यमी वर्ग का जन्म हुआ। प्रारम्भिक काल में मारवाड़ी लोग साहूकार थे जो कालान्तर में उद्यमी बने। इस वर्ग में बिरला, डालमिया, बजाज, साराभाई, टाटा आदि व्यवसायिक घरानों को रखा जाता है। यह वह वर्ग है जिनका संरचनात्मक आधार औपनिवेशिक भारत में है तथा जो परम्पराओं से जुड़े हैं तथा जिनकी जीवन पद्धति का अपेक्षाकृत कम पश्चिमीकरण हुआ है।[ccxviii]

(2) नव उद्यमी वर्ग

नव उद्यमी वर्ग के समान नव धनाढ्य वर्ग की अवधारणा का प्रयोग सी. राइट मिल्स में अपनी पुस्तक ''द पावर इलीट'' में करते हुए कहा है कि बदलते हुए आर्थिक परिवेश में जिन्होंने धन अर्जन किया है उन्हें इस वर्ग में रखा जा सकता है। नव धनाढ्यों और शास्त्रिय धनाढ्यों के बीच स्पष्ट अन्तर किया जाता तो संभव नहीं है परन्तु पिछले चार दशकों में भारत में आए राजनीतिक, आर्थिक परिवर्तनों से जो पर्याप्त व्यावसायिक गतिशीलता आई है, व्यापार के क्षेत्रों में गर व्यापारिक जातियों का प्रवेश बढ़ा है और आधुनिक उद्यमवर्ती के सम्मिलित स्वरूप से व्यापारिक संभ्रान्त वर्ग या नव धनाढ्य वर्ग में जो आमूल–चूल परिवर्तन आए हैं, इन परिवर्तनों के परिणामस्वरूप भारत में नव उद्यमी वर्ग का उदय हुआ है इस वर्ग में अंबानी, कोठारी, के. नारायण आदि को रखा जा सकता है।

28.4 उद्यमी की महत्वपूर्ण विशेषताएँ

सृजनात्मक कार्य के लिए उद्यमी की अभिप्रेरणा आत्म–उपलब्धि के लिए उसकी उत्कट इच्छा–शक्ति पर निर्भर करती है। उद्यमी की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएँ निम्नलिखित हैं[ccxix]–

1. उपलब्धि के लिए अत्यधिक आवश्यकता
2. अर्जनशीलता
3. आत्मविश्वास और स्वतंत्र व्यक्तित्व

4. नम्र और परंपरा–विरोधी व्यक्तित्व

5. उत्साही और जोखिम उठाने की क्षमता (सुविचारित संयत जोखिम लेना)

6. प्रासंगिकता और व्यावहारिकता

7. सृजनशील और तकनीकी बुद्धि

8. अनुकूलनशीलता

9. प्रबंधकीय कुशलता और नेतृत्व के गुण

10. प्रशासनिक योग्यता

11. सही निर्णय करने की योग्यता

12. उच्च कोटि की उपलब्धि के लिए अभिप्रेरणा

13. प्रभावित करने की व्यक्तिगत क्षमता

14. कार्य के लिए दृढ़ प्रतिबद्धता

28.5 भारत में उद्यमी वर्ग

आधुनिक उद्योग की शुरूआत उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से मानी जा सकती है। उस समय देश में जूट और सूती कपड़े की पहली मिलें स्थापित हुई थीं। बीसवीं शताब्दी के पहले पच्चीस वर्षों तक सूती कपड़ा, जूट और कोयले के उद्योग औद्योगिक क्षेत्रक के मुख्य अंग थे। अंग्रेज इनके प्रमुख उद्यमी थे। टाटा आयरन एंड स्टील वर्क्स 1911 में स्थापित किया गया। यह ब्रिटिश उद्यमवृत्ति के अंत की शुरूआत थी। इससे ब्रिटिश उद्यमवृत्ति ने हटना शुरू किया, जिससे देशी उद्यमवृत्ति को उभरने के लिए रास्ता खुला।[ccxx]

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के बाद के वर्षों में भारतीय उद्यमियों द्वारा शुरू किए गए उद्योग केवल सूती वस्त्र उद्योग तक सीमित थे। पहला सूती वस्त्र उद्योग पारसी समुदाय के एक सदस्य द्वारा 1854 में स्थापित किया गया था। वह उस समय का एक सफल सूती वस्त्र व्यापारी था।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान भारत में औद्योगिक विकास तीव्र गति से हुआ। इसका कारण यह था कि समुद्री परिवहन में कमी होने से आयात में भी भारी कमी की गई। मांग की पूर्ति के लिए घरेलू उत्पादन बढ़ाना बहुत जरूरी हो गया। इस पर भी, उद्यमियों का प्रादुर्भाव अपेक्षाकृत कम ही रहा। विद्वानों ने इसका कारण ब्रिटिश नीति या भारतीय सामाजिक संरचना बताया है, जो उद्यमवृत्ति की प्रेरणा उत्पन्न करने में सहायक नहीं हुई। इसके अलावा, कुछ अन्य यथार्थ कारक भी निरोधात्मक भूमिका अदा कर रहे थे। जैसे लोगों की कम क्रय शक्ति के कारण मांग में कमी (क्योंकि उत्पादन के मुकाबले जनसंख्या तेजी से बढ़ रही थी), अकुशल श्रमिक, तकनीकी जानकारी का अभाव, और देशी मशीनरी की कमी आदि।

भारत में मुख्य रूप से तीन समुदायों अर्थात पारसियों, गुजरातियों और मारवाड़ियों की पहल से भारतीय उद्यमी वर्ग का आविर्भाव हुआ। व्यापार के क्षेत्र में प्रवेश करने वाला पहला समुदाय पारसी समुदाय था। पारसी ऐसा समुदाय है, जो हिन्दू जाति व्यवस्था के अंतर्गत नहीं आता है। हमने आपको पहले ही बताया है

कि भारत की जाति पर आधरित सामाजिक संरचना केवल सीमित व्यावसायिक गतिशीलता की अनुमति देता है।

28.6 भारत के प्रमुख उद्यमी समुदाय

देश में प्रारंभिक उद्यम विकास का मुख्य लक्षण यह रहा है कि इसने वाणिज्यिक क्षेत्र में एवं विनिर्माण क्षेत्र में प्रवेश किया। पारसी, गुजराती और मारवाड़ी मूलतः व्यापारी थे। गुजराती पहला हिन्दू समुदाय था, जिसने पारसियों के बाद व्यापार के क्षेत्र में प्रवेश किया। वे परम्परागत व्यापारी जातियों के थे। 1911 से 1931 तक औद्योगिक क्षेत्र में पारसियों और गुजरातियों का वर्चस्व बना रहा। इस अवधि के बाद मारवाड़ी समुदाय की उद्यमवृत्ति में असाधारण वृद्धि हुई। मारवाड़ी औद्योगिक उद्यमियों के साहूकार थे। मारवाड़ी औद्योगिक घरानों में बिरला, गुग्गीलाल कमलापति, रूईया, अम्बालाल साराभाई, कस्तूरभाई और कुछ अन्य बहुत महत्वपूर्ण घराने थे।

भारतीय समाज की विशेषता यह है कि यह भिन्न–भिन्न जातियों और समुदायों का मिला–जुला रूप है, उनके अपने–अपने विशिष्ट सामाजिक और व्यावसायिक मानदंड है। इन्होंने देश में विकास की दिशा को प्रभावित किया। यह संभवतः इसलिए हुआ क्योंकि भारतीय उद्यमी वर्ग की संख्या सदस ही परंपरागत व्यापारी वर्ग से कमरही। देश में पर्याप्त व्यावसायिक गतिशीलता आई है। हाल ही के वर्षों में, व्र्रापार के क्षेत्र में गैर व्यापार जाति का प्रवेश काफी बढ़ा है। फिर भी, पिछले तीन दशकों में सम्भ्रान्त व्यापारी वर्ग की परंपरागत सामाजिक संरचना में, विशेष रूप से आधुनिक उद्यमवृत्ति में सम्मिलित सामाजिक समूह के संबंध में और देश में उद्यमियों के व्यापार संबंधी कार्यकलाप के स्वरूप में आमलचूल विचलन हुआ है।

हाल ही के वर्षों में, भारत के उद्यमी वर्ग के सामाजिक–आर्थिक संघटन में उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ है। पहले देश के औद्योगिक क्षेत्र में केवल बड़े मध्यम वर्ग का एकाधिकार था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत सरकार ने योजनाबद्ध आर्थिक विकास का मार्ग अपनाया।

28.7 भारत में उद्यम विकास

योजनाबद्ध विकास के चार दशकों के बाद भी भारत अभी भी ऐसा देश है जहाँ ग्रामीण और लघु उद्योग की संख्या अधिक है। सरकार ने लघु उद्योग और व्यापार के विकास के प्रति अपनी बचनबद्धता दिखाई है। छोटे उद्योगों को प्रोत्साति करने तथा नया उद्यम वर्ग बनाने के लए औद्योगिक क्षेत्र स्थापित कए गए है। यह नया उद्यमी वर्ग अब उन्नत औजार और प्रौद्योगिकी का उपयोग कर रहा है। वे अपने आर्थिक लेन–देन के महत्वपूर्ण क्षेत्रों में अपने संघां के माध्यम से सरकारी सहायता प्राप्त करने के लिए असंगठित भी है। यह उल्लेखनीय है कि भारत भी अधिकांश औद्योगिक श्रमिक लघु उद्योग क्षेत्र में लगे हुए हैं और इन क्षेत्रों में कामगार–सहभागिता की प्रवृत्ति बढ़ रही है। फिर भी, उद्यमी वर्ग के आर्थिक हितों को बड़े मध्यम वर्ग के आर्थिक हितों के विरूद्व देखा जाना जरूरी नहीं है। भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास की महत्वपूर्ण प्रक्रिया के रूप मे इसका विश्लेषण किया जाना चाहिए, जहां राज्य द्वारा वर्ग हितों को संरक्षण खुले रूप में दिया गया है। सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि नया उद्यमी वर्ग पूरी तरह से परंपरागत व्यापारी जातियों से नहीं है। कई प्रौद्योगिकीविद्, शिक्षित युवक, उद्यमी महिलाएँ, चाहे वे

किसी भी जातीय पृष्ठभूमि की हों, इस उद्यमी वर्ग के अंग हैं। इसलिए हम श्रमिक वर्ग के आर्थिक हितों की तुलना में उनके आर्थिक हितों का विश्लेषण कर सकते हैं।

28.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. एक उद्यमी की विशेषता है –

   (क) उसके पास केवल पूंजी होती है

   (ख) वह केवल उत्पादन का अभिकर्ता होता है

   (ग) वह पूंजीपति तथा उत्पादन का अभिकर्ता होता है

   (घ) उसकी केवल राजनैतिक पहुंच होती है

2. आधुनिक उद्योगों की शुरूआत कब से मानी जाती है –

   (क) 18वीं शदी (ख) 19वीं शदी

   (ग) 20वीं शदी (घ) 21वीं शदी

3. 'टाटा–आयरन एण्ड स्टील वर्क्स' की स्थापना हुई थी –

   (क) 1908 मे (ख) 1911 में

   (ग) 1914 में (घ) 1920 में

4. भारत में पहला सूती वस्त्र उद्योग स्थापित करने वाला समूदाय था –

   (क) बंगाली (ख) सिख

   (ग) पासी (घ) आँग्ल–भारतीय

28.9 उत्तर

1. ग
2. ख
3. ख
4. ग

28.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. देसाई ए.आर. सोशियल बैकग्राउण्ड ऑफ इण्डियन नेशनेलिज्म, पापुलर प्रकाशन, मुम्बई, 1987
2. डेविस, के. एण्ड मूर, डब्ल्यू, सम प्रिंसिपल्स ऑफ स्ट्रेटिफिकेशन्स, अमेरिकन सोशियोलॉजीकल रिव्यू, वोल्यूम, 1945

3. घुरये, जी.एस. कास्ट, क्लास एण्ड आक्यूपेशन, पापुलर बुक डिपो, मुम्बई, 1961

4. गौरे, एम.एस. इसीग्रेनट्स एण्ड नेबरहुडःदि ऑस्पक्ट्स ऑफ लाइफ इन मैट्रोपोलीटन सीटी, टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशियल साइन्स मुम्बई, 1970

5. मिश्रा, बीवी. दि इण्डियन मिडिलक्लासेस, देयर ग्रोथ इन मॉर्डन टाइम्स, ऑक्सफोर्ड, यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1978

6. गोल्डन्स, ए. डब्ल्यू. द फ्यूचर ऑफ इंटलैक्चुअल्स एण्ड दि राइज ऑफ दि न्यू क्लास, मैकमिलन, लंदन, 0979

7. बाटोमोर, टी.बी. इलीट एण्ड सोसायटी, पैग्विन बुक्स, हारमोन्डसवर्थ, 1956

8. रामास्वामी, ई.ए. एण्ड रामास्वामी, यूः इण्डस्ट्री एण्ड लेबरः एन इण्ट्रोडक्शन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेसनई दिल्ली, 1981

9. राव, एम. एस. (संपादक)ः अरबन सोशियोलोजी इन इण्डिया, ओरियन्ट लोंगमन, नई दिल्ली, 1974

10. शर्मा के. एल.ः सोशियल स्टेटीफिकेशन इन इण्डिया, मनोहर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986

11. ट्यूमिन एम. एम. सोशियल स्ट्रेीफिकेशन, दि फोर्म्स एण्ड फंकशन्स ऑफ इनइक्वेलिटी, प्रिंट्सि हॉल, न्यूजर्सी, 1967

12. योगेन्द्र सिंह, सोशियल स्ट्रेटिफिकेशन एण्ड चेन्ज इन इण्डिया, मनोहर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1974

13. राबर्ट लिण्ड एण्ड हेलन, मिडिल टाउन, हारकोर्ट ब्रेस, न्यूयार्क, 1929

14. वाइन्स, डब्ल्यू, लॉयडः यांकीसिटी, न्यूहैवन, कॉन, 1942

15. गीडिंग्स, एन्थोनी, सोशियोलोजी, पोलिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 1989

16. हरलम्बोस, एम. सोशियोलोजी, थीम्स एण्ड परस्पैक्टिव, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू दिल्ली, 1989

17. केतकर, एस. वी., हिस्ट्री ऑफ कास्ट इन इण्डिया, इथाका , न्यूयार्क, 1909

18. योगेश अटल, द वेन्जिंग फ्रंटीयर्स ऑफ कास्ट, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1968

19. डॉ0 हरिश्चन्द्र उप्रेती, डॉ रामेश्वर लाल सैनी, 'नगरीय समाजशास्त्र', राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2003

[I] डॉ० हरिश्चन्द्र उप्रेती, डॉ रामेश्वर लाल सैनी, 'नगरीय समाजशास्त्र', राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2003

[ii] वही

[iii] वही

[vi] भारतीय वर्ग संरचना, ईएसओ–04, इग्नू

इकाई–29

अभिजन और शक्ति की असमानता

इकाई की रूपरेखा

29.1 उद्देश्य

29.2 प्रस्तावना

29.3 अभिजन या अभिजात

29.4 अभिजातों के प्रकार

29.5 भारत में अभिजातों के प्रकार

29.6 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

29.7 उत्तर

29.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

29.1 उद्देश्य

इस इकाई को अध्ययन के बाद आप–

1. अभिजन की अवधारणा से अवगत होंगे।
2. भारत में अभिजनों के प्रकार से परिचित होंगे।

29.2 प्रस्तावना

दुनिया के लगभग सभी राष्ट्रों में एक ऐसा वर्ग पाया जाता है जो अपने–अपने क्षेत्रों में सर्वोच्च स्थान रखता है, उस वर्ग को अभिजन या अभिजात कहा जाता है। वर्तमान सन्दर्भों में बिल गेट्स,मार्क जुकरबर्ग, वारेन बफेट, लक्ष्मी निवास मित्तल, मुकेश एवं अनिल अम्बानी, अजीम प्रेमजी आदि हैं। कई बार ये अभिजन घरानों के रूप में भी जाने जाते हैं। ऐसा नहीं है कि ये केवल उद्योग के ही क्षेत्र में पाए जातें हैं, बल्कि ये राजनीति, प्रशासन आदि क्षेत्रों में भी पाए जाते हैं। इनकी अपनी एक अलग जीवन शैली होती है तथा ये कई ऐसे काम करते हैं जिससे ये मीडिया की सुर्ख़ियों में बने रहते हैं। समाज वैज्ञानिकों का मानना है कि नगरीय समाज में अभिजातों का एक अलग वर्ग है जिनकी अपनी विशिष्ट जीवन शैली है। नगरीय समाजों में अभिजनों के विभिन्न स्वरूप भी मौजूद हैं।

29.3 अभिजन या अभिजात

17वीं शताब्दी में अभिजात शब्द का प्रयोग श्रेष्ठ वस्तुओं के लिए किया जाता था। 19वीं शताब्दी के अन्त तक इस शब्द का प्रयोग सामाजिक, राजनीतिक

लोगों में व्यापक रूप में होने लगा। साधारण शब्दों में उस व्यक्ति को अभिजन कहा जाता है जो अपने क्षेत्र में श्रेष्ठ होता है, सर्वोत्तम होता है।

पैरीगेरियन्ट के अनुसार अभिजन वह अल्पसंख्यक समूह जो समाज के एक विशिष्ट क्षेत्र में प्रभावी भूमिका निभाता है। परेटों ने अभिजन की सरल परिभाषा करते हुए लिखा है कि अगर हम व्यक्तियों को उनकी गतिविधियों (धन्धे) के क्षेत्र में सूचकों के अंक दें तो जो व्यक्ति सर्वोत्तम अंक प्राप्त करते हैं उन्हें अभिजन कहा जाता है।[ccxxi]

नेडल ने इन्हें अपनी श्रेष्ठता से समाज के भाग्य निर्धारित करने वालों के रूप में देखा है, तो सी. राइट मिल्स अभिजनों में उन्हें सम्मिलित करते हैं जिन्हें वह सभी प्राप्त होता है जिसको एक व्यक्ति प्राप्त करना चाहता है। इन सभी परिभाषाओं के आधार पर अभिजनों में निम्नलिखित तत्वों को अलग किया जा सकता है:

(i) विशिष्टता :– शेष व्यक्तियों से अलग पहचान

(ii) लघुसमूह :– बहुत कम संख्या

(iii) निर्णायक क्षमता :– अपने क्षेत्र में निर्णय लेने वाले

(iv) सापेक्षता :– एक क्षेत्र में अभिजात तो दूसरे क्षेत्र में सामान्य

29.4 अभिजातों के प्रकार

सी. राइट मिल्स ने अपनी पुस्तक 'द पावर इलीट' में अमेरिका में तीन प्रकार के अभिजनों का स्पष्ट वर्णन किया है और कहा कि अमेरिकन समाज में सभी निर्णय कर्ता ये ही लोग होते हैं। ये तीन प्राकर के अभिजन है[ccxxii] :

(क) वृहद् आर्थिक संगठनों के अध्यक्ष

(ख) राजनीतिक नेता

(ग) उच्च सैनिक अधिकारी

इन तीनों के कार्य क्षेत्र अलग–अलग होते हुए भी ये आपस में सम्बन्धित हैं तथा एक दूसरे के हितों की पूर्ति में सहायता करते हैं।

टॉम बोटोमोर ने अपनी पुस्तक 'इलीट एवं सोसायटी' में अभिजनों के पाँच प्रकार बतलाए हैं। ये हैं :

(क) वंशानुगत अभिजात

(ख) मध्यम वर्गीय अभिजात

(ग) क्रान्तिकारी, बुद्धिजीवी अभिजात

(घ) औपनिवेशिक प्रशासक

(ड) विकासशील समाजों के राष्ट्रीय नेता

29.5 भारत में अभिजातों के प्रकार

भारतीय संदर्भ में योगेन्द्र सिंह ने अपनी पुस्तक 'सोशियालोजी ऑफ सोशियल स्ट्रेटीफिकेशन' (1977) में छः प्रकार के अभिजनों का वर्णन किया है[ccxxiii]–

1. परम्परागत अभिजात

वे जिनका उद्भव 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में हुआ। इनका प्रभाव पूर्व ब्रिटिश भारत में रहा था और इनके व्यक्तित्व में परम्परा एवं करिश्मा का तत्व भी रहा है। इन अभिजनों को वर्ण व्यवस्था के साथ देखा गया है और ब्राह्मणों की करिश्माई भूमिका को महत्व दिया गया है। इन अभिजातों ने ब्रिटिश भारत तथा भारत के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक आन्दोलनों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ब्राह्मणों के साथ ही भू–स्वामी, कुलीन एवं शिक्षित मध्यम वर्ग के लोग भी जो पाश्चात्य शिक्षा के कारण उभरे थे, भी इनके भाग बने। मैक्सवेबर एवं जे. एस. मिल भी ब्राह्मण अभिजातों की श्रेष्ठता को स्वीकारते हैं।

ब्राह्मणों के बाद दूसरा स्थान था– कुलीनों का। कुलीन तंत्र के इस मत का समर्थन चार्ल्स माइकॉफ, जॉन मेलकाम तथा हैनरी लॉरेन्स भी करते हैं। 1857 की क्रान्ति के बाद ब्रिटिश प्रशासकों ने इन्हें और ताकतवर बनाया।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शिक्षित मध्यम वर्गीय अभिजात अस्तित्व में आए जो सांस्कृतिक एवं वैचारिक रूप से पाश्चात्य थे, जिन्हें बाबुओं के नाम से ही जाना गया। मूलतः इस वर्ग की नींव चार्ल्स मैकाले ने भारतीय शिक्षा नीति के माध्यम से डाली।

वस्तुतः इस दृष्टिकोण में 16वीं शताब्दी विशेषकर, मुसिलिम शासन के मध्यकाल के उन कारकों की पूर्णतया उपेक्षा की गयी है, जिन्होंने 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में अभिजनों के उद्भव के लिए संरचनात्मक पृष्ठभूमि तैयार की। इस काल में मुगल शसकों ने न्यायालयों में ब्राह्मणों के अलावा क्षत्रिय एवं कायस्थों को भी नियुक्ति किया था। अकबर ने मनसबदारी व्यवस्था की शुरूवात करते हुए राजपूतों, ब्राह्मणों, क्षत्रियों को मनसबदार नियुक्त किया। औरंगजेब ने मराठों को नियुक्ति किया। ये कम या अधिक मात्रा में अभिजात वर्ग का निर्माण करते थे।

2. नया अभिजात वर्ग

19वीं शताब्दी के नये अभिजात वर्ग के उदय को हम कोलकाता में देख सकते हैं। ब्रिटिश प्रशासकों की नयी भूमि–व्यवस्था नीति को लागू करने के लिए नये मध्यम वर्ग का विकास हुआ। नई नीति से परम्परागत भू–स्वामियों के हाथों से भूमि निकल कर नये धनिक वर्ग के हाथों में आ गयी। नये मध्यम वर्ग में छोटे व्यापारी, दलाल, कनिष्ठ प्रशासक, पैकर, गुमास्ता, मुंशी, बनिये एवं दीवान आदि लोग आये।

इस समय के नये लोगों को मुखर्जी ने दो भागों में विभाजित किया है– कुलीन या भद्रलोक एवं द्वितीय मध्य बिट्टों या ग्रहस्थ भद्रलोक। इनमें संचरण देखने को मिलता था। अभिजात भद्रलोक संभ्रात या कुलीन वर्ग में देवास, टैगोर, डे, घोष, मलिक आदि थे जो वासर से बाडी नामक

आवासीय व्यवस्था में रहने लगे थे। जबकि द्वितीय समूह बडे दुकानदार, छोटे व्यापारी, छोटे भू–स्वामी, सफेदपोश व्यवसाय, सरकार में कार्यरत कर्मचारी, प्राध्यापक, स्थानीय डॉक्टर, लेखक एवं पत्रकारों से मिलकर बना था।

इसी प्रकार की प्रवृत्ति मद्रास एवं मुम्बई में भी देखने को मिलती है, जहां नये अभिजात वर्ग का उदय हुआ जो अंग्रेज व्यापारियों के मध्यस्थों, वाणिज्यिक सट्टेबाजों, कनिष्ठ अधिकारियों आदि से मिलकर बना था।

नये अभिजात वर्ग के उदय के साथ ही उनमें विभेदीकरण की प्रक्रिया भी आरम्भ हो गयी और 20वीं शताब्दी के मध्य तक ये पूर्णतया विभेदीकृत हो गये । इन अभिजातों का स्रोत स्तरीकरण की व्यवस्था में पूर्णतया ऊंचे तबके से था।

इस स्तरीकरण का आधार चाहे वर्ग रहा हो या फिर जाति, नये अभिजात निश्चित रूप से उच्च वर्ग एवं उच्च जाती से थे। राजनीति, व्यापार, नौकरशाही, व्यावसायिक क्षेत्र, बौद्धिक क्षेत्र में अलग–अलग अभिजातों का विकास हुआ।

3. राजनीतिक अभिजात

भारत में नये राजनीतिक अभिजात वर्ग के उदय की प्रक्रिया भारतीय राष्ट्रवाद की भावना के विकास एवं राजनीतिक स्वतंत्रता आंदोलन के साथ जूड़ती है। 19वीं एवं 20वीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में अभिजात चाहे किसी भी पृष्ठभूमि के हों, उनके कार्यक्षेत्र आपस में मिले हुए थे। इन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। ऐसा माना जाता है कि भारत में विशुद्ध रूप से राजनीतिक अभिजातों का उदय स्वतंत्रता के बाद ही हुआ है।

संरचनात्मक रूप से यदि देखा जाए तो स्वतंत्रता पूर्व के अभिजात सामाजिक संस्तकरण के उच्चस्तर से थे चाहे उनकी विचारधारा अलग–अलग ही क्यों न रही हो। या वे अलग–अलग धर्म एवं सजातीय समूह के क्यों न हो। वे इस बात में भी समान थे िकवे आधुनिकीकरण को अपना रहे थे।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने राजनीतिक अभिजातों के उदय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस पार्टी में जो नये अभिजात थे वे मुख्यतः मध्यम वर्ग के शिक्षित नगरीय लोग थे।

कांग्रेस में ही नहीं अन्य दल जो कि उग्रवादी विचारधारा के थे, के अभिजात भी उच्च वर्ग एवं उच्च जातीय पृष्ठभूमि के थे। कम्युनिष्ट पार्टी के अधिकांश नेता अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कैम्ब्रिज, ऑक्सफोर्ड या लन्दन स्कूल ऑफ इकोनोमिक्स के स्त्रातक रहे। इस प्रकार की प्रवृत्ति, पं. पंगाल, केरल, आंध्रप्रदेश में ही नहीं बल्कि कम या अधिक मात्रा में सभी राज्यों में देखने को मिलती है।

इकबाल नारायण (1964) का भी यही निष्कर्ष है कि राजस्थान में राजनीतिक अभिजात वर्ग में पूर्व जागीरदारों, व्यापारियों और बड़े भू–स्वामियों का प्रभुत्व है।

4. व्यापारिक अभिजात

राजनीतिक अभिजातों की भांति ही व्यापारिक अभिजातों की संरचनात्मक निरन्तरता भी उच्चवर्ग से ही रही है। प्रथमतः ये परम्परागत व्यापारिक जातियों से थे जो लम्बा व्यावसायिक इतिहास रखते हैं तथा अपने आप को परम्परागत सामाजिक संरचना एवं ग्रामीण संरचना से जुड़ा हुआ मानते हैं। इनकी जीवन पद्धति का पश्चिमीकरण भी बहुत कम हुआ जबकि अन्य प्रकार के अभिजात न केवल विचारधारा या कौशल में ही परिष्कृत रहे बल्कि जीवनशैली भी आधुनिक रही छोटे व्यापारिक समूहों से औद्योगिक समूहों में गतिशीलता सामान्य घटना रही है।

भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में व्यापारिक अभिजतों की भूमिका भूस्वामी वर्ग से अधिक राष्ट्रवादी रही। पं. आर. देसाई, पे.के. बागवी जैसे विचारकों का मानना है कि छोटे हितों को छोड़कर विस्तृत स्तर पर व्यापारिक अभिजातों एवं अंग्रेजों के आर्थिक हित टकराते थे और यही कारण था कि व्यापारिक अभिजात राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ गये।

इस ऐतिहासिक घटना के दो परिणाम रहे। प्रथम, व्यापारिक अभिजात एवं राजनीतिक अभिजात संबंधित हो गये एवं द्वितीय, औद्योगिक नीतियों के निर्धारण में इन अभिजातों की भूमिका बढ़ गयी। आर्थिक शक्ति कुछ ही व्यापारिक घरानों के पास केन्द्रित हो गयी जैसे टाटा, बिड़ला, डालमिया, बजाज आदि। इस प्रकार भारत में व्यापारिक अभिजात न केवल संरचनात्मक निरंतरता बनाये हुए हैं बल्कि आर्थिक शक्ति एवं सामाजिक क्षेत्र मे भी प्रभावी होते जा रहे हैं।

5. नौकरशाही एवं व्यावसायिक अभिजात

मैक्स वेबर अभिजातों के इस वर्ग को आधुनिक समाजों के शक्तिशाली वर्ग के रूप में मानते हैं। इनका विकास नौकरशाही के विकास से साथ जुड़ा है। योगेन्द्र सिंह ने नौकरशाहों और व्यावसायिक अभिजातों को एक ही श्रेणी में रखा है। योगेन्द्र सिंह ने इनकी कुछ विशेषता भी बताई है, जिनमें–

1. व्यावसायिक भूमिका निर्वहन के लिए कौशल प्राप्त करने हेतु निश्चित प्रशिक्षण प्रााप्त करना होता है।
2. औपचारिक संगठनों में जटिल प्रकृति के दायित्वों का निर्वहन करते हैं।
3. सार्वभौमिक प्रकृति के मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता विशेषकर तार्किकता, वस्तुपरकता, प्रगतिवाद आदि है।
4. विशिष्ट भूमिका।
5. वैधानिक प्रक्रियाओं द्वारा कार्य–निर्वहन।

नौकरशाह उच्च जातियों, पुरूषों, तथा शहरी क्षेत्रों से आता रहा है। अध्ययनों में पाया गया कि यह 85 प्रतिशत उच्च जातियों से ही नहीं उच्च मध्यम वर्ग या मध्यम वर्ग से था।

प्रकार्यात्मक रूप से नौकरशाह सामाजिक व्यवस्था का एक नया अंग है जिसका विकास ईस्ट इण्डिया कंपनीऔर बाद में ब्रिटिश सरकार की औपनिवेशिक दुनिया को आवश्यकताओं की पूर्ति के कारण हुआ। 18वीं शताब्दी तक यू.के. में नौकरशाही का वर्तमान स्वरूप नहीं था। भारत में भी कम्पनी के पदाधिकारियों की नियुक्ति राजनीतिक एवं स्वामिभक्ति के आधार पर की जाती थी। 1861 में इण्डियन सिविल सर्विस एक्ट बना तथा नौकरशाही का ताकीकरण हुआ और उस समय सरकारी पदाधिकारी, अभिजन मुख्यतः समाज के उच्च वर्ग एवं विशेष अधिकार प्राप्त वर्ग से ही आते थे।

6. बुद्धिजीवी अभिजात

बुद्धिजीवी अभिजात की स्पष्ट परिभाषा किया जाना मुश्किल है। इस वर्ग में वे सभी व्यक्ति आ जाते हैं जो अपनी आजीविका स1जनात्मक मानसिक कार्यों से चलाते हैं। यहां सृजनात्मकता की भी कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं है। यह सामानयतः वह छोटा समूह है जो प्रत्यक्ष रूप से विचारों के निर्माण, प्रसारण एवं आलोंचना में योगदान देते हैं। इनमें कलाकार, लेखक, वैानिक, दर्शनशास्त्राी, धार्मिक विचारक, सामाजिक सिद्धान्त कारी अध्यापक, पत्रकार आदि सम्मिलित हैं। इनके अंलावा योगेन्द्र सिंह ने इनमें उच्च शिक्षित प्रशासकों, न्यायाधीशों और सांसदों, कलाकारों, जो पेन्गि व मूर्तिकला के क्षेत्र में हों, को भी रखा है।

भारत में बुद्धिजीवी अभिजातों के बारे में व्यवस्थित अध्ययन बहुत कम हुए हैं। एडवर्डशील, आई.पी. देसाई, डी.पी. मुकर्जी, बाटोमोर आदि ने इस क्षेत्र में उल्लेखनीय अध्ययन किये हैं। ए.आर. देसाई ने बुद्धिजीवी अभिजातों की प्रथम पंक्ति में उदारवादी चरण के राष्ट्रीय आन्दोलन की अगुवाई करने वालों, गोपाल कृष्ण गोखले, दादा भाई नौरोजी, एस. बनर्जी, एम.जी.रानाडे, फिरोजशाह मेहता को रखा है। आन्दोलन के दूसरे चरण में बालगंगाधर तिलक, बी.सी. पॉल, अरविंद घोष, लाला लाजपत राय जैसे अंग्रेजी के जानकार प्रबुद्ध वर्ग को रखा है। आंदोलन के अंतिम चरण में जिन बुद्धिजीवी अभिजातों ने नेतृत्व किया उनमें गांधी, सी.आर. दास, मोतीलाल नेहरू, विट्ठलभाई पटेल, सी. राजगोपालाचारी, राजेन्द्र प्रसाद, जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस जैसे लोगों को रखा है।

29.6 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. अभिजनों में जिन तत्वों को अलग किया जा सकता है उनमें शामिल लक्षण नहीं है—

   क. विशिष्टता   ख. लघुसमूह

   ग. निर्णायक क्षमता   घ. निरपेक्षता

2. पुस्तक 'सोशियालोजी ऑफ सोशियल स्ट्रेटीफिकेशन' (1977) के लेखक हैं—

   क. श्यामाचरण दुबे   ख. नेडल

   ग. योगेन्द्र सिंह   घ. सी. राइट मिल्स

3. पुस्तक 'द पावर इलीट' के लेखक हैं–

   क. श्यामाचरण दुबे　　ख. नेडल

   ग. योगेन्द्र सिंह　　घ. सी. राइट मिल्स

4. टॉम बोटोमोर ने अपनी पुस्तक 'इलीट एवं सोसायटी' में अभिजनों के प्रकार बतलाए हैं–

   क. दो　　ख. चार

   ग. पांच　　घ. छह

29.7 उत्तर

1. घ
2. ग
3. घ
4. ग

29.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. देसाई ए.आर. सोशियल बैकग्राउण्ड ऑफ इण्डियन नेशनेलिज्म, पापुलर प्रकाशन, मुम्बई, 1987
2. डेविस, के. एण्ड मूर, डब्ल्यू. सम प्रिंसिपल्स ऑफ स्ट्रेटिफिकेशन्स, अमेरिकन सोशियोलॉजीकल रिव्यू, वोल्यूम, 1945
3. घुरये, जी.एस. कास्ट, क्लास एण्ड आक्यूपेशन, पापुलर बुक डिपो, मुम्बई, 1961
4. गौरे, एम.एस. इसीग्रेनट्स एण्ड नेबरहुडःदि ऑस्पक्ट्स ऑफ लाइफ इन मैट्रोपोलीटन सीटी, टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशियल साइन्स मुम्बई, 1970
5. मिश्रा, बीवी. दि इण्डियन मिडिलक्लासेस, देयर ग्रोथ इन मॉर्डन टाइम्स, ऑक्सफोर्ड, यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1978
6. गोल्डन्स, ए. डब्ल्यू. द फ्यूचर ऑफ इंटलैक्चुअल्स एण्ड दि राइज ऑफ दि न्यू क्लास, मैकमिलन, लंदन, 0979
7. बाटोमोर, टी.बी. इलीट एण्ड सोसायटी, पैग्विन बुक्स, हारमोन्डसवर्थ, 1956
8. रामास्वामी, ई.ए. एण्ड रामास्वामी, यूः इण्डस्ट्री एण्ड लेबरः एन इण्ट्रोडक्शन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेसनई दिल्ली, 1981
9. राव, एम. एस. (संपादक): अरबन सोशियोलोजी इन इण्डिया, ओरियन्ट लोंगमन, नई दिल्ली, 1974
10. शर्मा के. एल.: सोशियल स्टेटीफिकेशन इन इण्डिया, मनोहर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986

11. ट्यूमिन एम. एम. सोशियल स्ट्रेटीफिकेशन, दि फोर्म्स एण्ड फंकशन्स ऑफ इनइक्वेलिटी, प्रिंटि्स हॉल, न्यूजर्सी, 1967

12. योगेन्द्र सिंह, सोशियल स्ट्रेटिफिकेशन एण्ड चेन्ज इन इण्डिया, मनोहर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1974

13. राबर्ट लिण्ड एण्ड हेलन, मिडिल टाउन, हारकोर्ट ब्रेस, न्यूयार्क, 1929

14. वाइन्स, डब्ल्यू, लॉयडः यांकीसिटी, न्यूहैवन, कॉन, 1942

15. गीडिंग्स, एन्थोनी, सोशियोलोजी, पोलिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 1989

16. हरलम्बोस, एम. सोशियोलोजी, थीम्स एण्ड परस्पैक्टिव, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू दिल्ली, 1989

17. केतकर, एस. वी., हिस्ट्री ऑफ कास्ट इन इण्डिया, इथाका , न्यूयार्क, 1909

18. योगेश अटल, द वेन्जिंग फ्रंटीयर्स ऑफ कास्ट, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1968

19. डॉ0 हरिश्चन्द्र उप्रेती, डॉ रामेश्वर लाल सैनी, 'नगरीय समाजशास्त्र', राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2003

[i] डॉ० हरिश्चन्द्र उप्रेती, डॉ रामेश्वर लाल सैनी, 'नगरीय समाजशास्त्र', राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2003

[ii] वही

[iii] वही

DCESY-104

सामाजिक स्तरीकरण

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

खण्ड –7

शिक्षा, सामाजिक गतिशीलता और सामाजिक परिवर्तन

इकाई – 30 **119–132**

सामाजिक स्तरीकरण और शिक्षा

इकाई – 31 **133–152**

वर्गीय स्तरीकरण और सामाजिक गतिशीलता

इकाई – 32 **153–168**

सामाजिक स्तरीकरण और सामाजिक परिवर्तन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

परामर्श समिति

प्रो0 के0 एन0 सिंह (अध्यक्ष) — कुलपति, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

डॉ० ए० के० गुप्ता — कुलसचिव, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सम्पादक

प्रो0 संजय सिंह (अध्यक्ष) — समाजशास्त्रए डॉ० राम मनोहर लोहिया राष्ट्रीय विधि, विश्वविद्यालय, लखनऊ

पाठ्यक्रम निर्माण समिति (अध्ययन बोर्ड)

1. डॉ० एम० एन० सिंह – पूर्व निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
2. डॉ० इति तिवारी – पूर्व एसो० प्रोफेसर समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
3. श्री रमेश चन्द्र यादव – शैक्षणिक परामर्शदाता, समाजशास्त्र, समाज विज्ञान विद्यशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

DCESY-104– समाजिक स्तरीकरण

लेखक–

1. डॉ० इति तिवारी – पूर्व एसो० प्रोफेसर समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
2. श्री रमेश चन्द्र यादव – शैक्षणिक परामर्शदाता, समाजशास्त्र, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
3. डॉ० शैलजा सिंह एसो० – प्रोफेसर, डॉ० शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ
4. डॉ० विजय कुमार वर्मा – असि० प्रोफेसर, डॉ० शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ
5. डॉ० विलोक सिंह – असि० प्रोफेसर, स्वामी सहजानन्द पी०जी० कालेज, गाजीपुर (उ०प्र०)
6. श्री अजय कुमार त्रिपाठी – जे० एन० पी०जी० कालेज, लखनऊ
7. डॉ० जया द्विवेदी तिवारी – अवध गर्ल्स डिग्री कालेज, लखनऊ
8. डॉ० श्वेता तिवारी ए०पी० – सेन गर्ल्स मेमोरियल पी०जी० कालेज, लखनऊ
9. डॉ० मपीन्द्र कुमार तिवारी – डी०ए०वी० कालेज, लखनऊ

2020 (मुद्रित)

© उ0प्र0 प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज 2022

ISBN- 978-93-83328-41-3

सर्वाधिक सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।
उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठयसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।
नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आमड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज
प्रकाशक – कुलसचिव, प्रो0 पी0 पी0 दुबे, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज – 211021
मुद्रक – के0सी0प्रिंटिंग एण्ड एलाइड वर्क्स, पंचवटी, मथुरा– 281003.

इकाई–30

सामाजिक स्तरीकरण और शिक्षा

इकाई की रूपरेखा

30.1 उद्देश्य

30.2 प्रस्तावना

30.3 ऐतिहासिक संदर्भ

30.4 जाति और शिक्षा का वर्णन

30.5 व्यवसाय और शिक्षा का वर्णन

30.6 आय और शिक्षा : विविध काल में

30.7 गतिशीलता, शिक्षा एवं सामाजिक बदलाव

30.8 सारांश

30.9 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

30.10 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

30.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद छात्र–

1. सामाजिक स्तरीकरण और शिक्षा के संबंध को समझ सकेंगे,
2. हम स्तरीकरण के ऐतिहासिक आयाम को समझ सकेंगे,
3. सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न तथ्यों, जैसे जाति, व्यवसाय और आय के अन्तर्गत आधुनिक भारत में शिक्षा के सम्बन्ध में चर्चा कर ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

30.2 प्रस्तावना

सामाजिक स्तरीकरण सभी समाजों में पाया जाता है। इसका अर्थ होता है प्रासंगिक तौर पर स्थिर सामाजिक स्तरों में समाज का विभाजन। सामाजिक स्तरों को सामाजिक अस्तित्व, समाज के मूल्यों और नियमों के आधार पर ऊंची–नीची श्रेणी में रखा जाता है। कोई विशेष स्तर समाज के दूसरे स्तरों की तुलना में ऊंचा या नीचा, विशेष सुविधा प्राप्त या ऐसी सुविधाओं से वंचित, शासक या शासित हो सकता है। इस तरह, सामाजिक स्तरीकरण समाज के विभिन्न स्तरों के बीच संगठित असमानता के क्रमबद्ध रूप में नियमित होने की स्थिति है।

सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था का नजदीकी संबंध समाज की शिक्षा व्यवस्था से होता हैं समाज के विभिन्न स्तरों के व्यक्तियों की क्षमता बहुत हद तक इस बात पर निर्भर करती है कि सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था में उनकी स्थिति क्या है, अर्थात् सामाजिक स्तरीकरण की श्रेणीबद्ध व्यवस्था में वर्ग, स्थिति, व्यवसाय और आय के संदर्भ में उनकी क्या स्थिति है। इसके अलावा, सामाजिक स्थिति का मूल्यांकन आंशिक तौर पर व्यक्ति की शैक्षिक उपलब्धियों के आधार पर होता है। शिक्षा का प्रभाव व्यवसाय के चुनाव, आय की मात्रा और जीवन–शैली या रहन–सहन के ढंग पर पड़ता है। इसलिए, सामाजिक स्तरीकरण और शिक्षा के बीच अंतरक्रिया होती है।

भारत में, सामाजिक स्तरीकरण और शिक्षा के अध्ययन के तहत् विभिन्न स्तरों के व्यक्तियों के शिक्षित होने की क्षमता के सामाजिक निर्धारक तत्वों के मसले पर गौर किया जाता है। इन अध्ययनों से पता चलता है कि विभिन्न सामाजिक स्तरों की शैक्षिक स्थिति पर जाति, व्यवसाय और आय के क्षेत्रों में विद्यमान असमानता और अंतरों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। शुरूआती अध्ययनों में शिक्षा को सामाजिक बदलाव का एक बहुत महत्वपूर्ण साधन माना गया था, लेकिन बाद के अध्ययनों से यह संकेत मिलता है कि समाज को आकार देने या बनाने में शिक्षा की भूमिका बहुत सीमित है। वास्तव में, यह कहा जा सकताहै कि शिक्षा विद्यमान असमानताओं को व्यक्त और उनकी पुष्टि करने का काम अधिक करती है और उन्हें बदलने का काम कम।

इस इकाई में सामाजिक स्तरीकरण और शिक्षा पर चर्चा करने के लिए हम ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से शुरूआत करेंगे जिसमें प्राचीन, मध्य और आधुनिक कालों को लिया जायेगा। फिर, हम भारत में सामाजिक स्तरीकरण के सबसे विशिष्ट लक्षण, अर्थात् जाति और शिक्षा पर चर्चा करेंगे। उसके बाद विभिन्न सामाजिक स्तरों के व्यवसाय और उनकी शैक्षिक स्थिति के संबंध पर विचार करेंगे। इसके बाद आय और शिक्षा के संबंध की चर्चा की जाएगी। इस पूरी चर्चा को दो कालों, अर्थात् उपनिवेश काल और स्वातंत्र्योत्तर (आजादी के बाद का) काल में बांटा गया है। अंत में, हम शिक्षा, गतिशीलता और सामाजिक बदलाव के बारे में अध्ययन करेंगे।

30.3 ऐतिहासिक संदर्भ

पारंपरिक समाजों में शिक्षा एक अलग और विशिष्ट ज्ञान वाली सामाजिक संस्था के रूप में विद्यमान नहीं थी। युवा लोग अपनी जिन्दगी के सबक सामाजिक समूह की प्रतिदिन की गतिविधियों में सीखते थे। ज्ञान और हुनर आमतौरपर अपने बड़ों की नकल करके अनौपचारिक तौर पर हासिल किये जाते थे, लेकिन, तुलनात्मक तौर पर अधिक जटिल पूर्व–औद्यौगिक और औद्योगिक समाजों में विशिष्ट शैक्षिक (विशेषीकृत) संस्थाओं का विकास हुआ। इसके अलावा, शिक्षा व्यवस्था में समाज के अंतरों और असमानताओं वाले संगठन की झलक मिलती थी।

प्राचीन और मध्य काल में वर्णन

भारत में, ऋग्वेद के काल (1500–1000 ई.पू.) का समाज आदिम, अर्ध–खानाबदोश और व्यापक तौर पर समानतावाला था और उसमें कोई स्तरीकरण नहीं था। इस काल की शैक्षिक उपलब्धि ऋग्वेद में संकलित है। जहां तक इस महान ग्रंथ की ऋचाओं का सवाल है, समाज के किसी भी वर्ग पर किसी तरह का

बंधन नहीं था। स्त्रियां भी धार्मिक और बौद्धिक कार्यों में हिस्सा लेती थी, लेकिन, धीरे–धीरे, भारतीय समाज और भी अधिक भिन्नताओं वाला और जटिल होता गया। व्यवसाय में भिन्नताएं और विशेषज्ञता आने के साथ–साथ, समाज वर्ण या जाति के आधार पर संगठित हो गया। अनेक सामाजिक समूह एक विशेष व्यवसाय का विशेषज्ञ हो गया। व्यवसाय विरासती हो गये और इस तरह विभिन्न स्थिर सामाजिक स्तर बन गये और उन्हें मजबूती मिली। सामाजिक श्रेणीबद्धता से ब्राह्मणों को सबसे ऊँची श्रेणी में रखा गया। उनके बाद क्रमशः क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों का स्थान रहा, सबसे नीचे अछूतों को रखा गया। सामाजिक स्तरीकरण की इस चतुर्थवर्ण योजना में प्रत्येक जाति–समूह– अर्थात् वर्ण में विभिन्न उप–जातियों को मान्यता मिली।

समाज की वर्ण जाति योजना या व्यवस्था में, ब्राह्मण शिक्षा और पुरोहिती के विशेषज्ञ थे। शिक्षा टौलों और पाठशालाओं में दी जाती थी। सभी द्विज (दो बार जन्म लेने वाली) जातियों को शिक्षा पाने का अधिकार था। लेकिन शूद्र, अछूत और स्त्रियों पर यह पाबंदी थी कि वे बौद्धिक ज्ञान की शिक्षा नहीं ले सकते। विभिन्न कलाओं और दस्तकारियों की शिक्षा व्यक्ति को पीढ़ी–दर–पीढ़ी अपने परिवार और जाति में मिलती थी। इसके अलावा, ऊँची जातियों ने अपनी शिक्षा का माध्यम संस्कृत को बनाया। नीची जातियों को पाली और प्राकृतिक जैसी अन्य भाषाओं में संवाद करना होता था। इस तरह, व्यापक तौर पर प्राचीन भारतीयों की दो शिक्षा धाराएं थी, एक तो विशेष अधिकार प्राप्त जातियों और वर्गों के लिए और दूसरी विशेष अधिकारों से वंचित जनसाधारण के लिए।

मध्य काल में भी हमें भारत में एक समांतरशिक्षा व्यवस्था देखने को मिलती है। हिंदुओं की शिक्षा धाराएं (इस काल में) पहले जैसी ही रहीं। मुसलमानों ने इस्लाम का ज्ञान देने के लिए मकतबा और मदरसा जैसी अपनी अलग–अलग शिक्षा संस्थाएं स्थापित कर लीं। फारसी को शासक वर्ग के लिए शिक्षा के माध्यम के तौर पर अपनायागया। यह दरबारी भाषा थी, इसलिए शसकों की तरफ से इसे कहीं अधिक बढ़ावा मिला। इसके अलावा, कई और भाषाएं भी विकसतिहुई जो विशेष अधिकारों से वंचित जातियों और वर्गों के लिए पारंपरिक कलाओं और दस्ताकारियों का हुनर देने और संवाद करने का माध्यम बनीं।

आधुनिक काल में वर्णन

अंग्रेजों ने भारत में एक नयी शिक्षा व्यवथा की शुरूआत की। औपचारिक शिक्षा की पारंपरिक व्यवस्था व्यापक तौर पर धार्मिक और सामाजिक पाबंदियों वाली थी। लेकिन औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था आधुनिक और धर्मनिरपेक्ष और सभी जाति, प्रजाति, संप्रदाय और लिंग के लिए थी। औपनिवेशिक शासकों को भारत में रोजमर्रा के प्रशासन, आर्थिक शोषण और राजनीतिक प्रभुत्व के लिए लोगों के एक नये वर्ग की आवश्यकता थी। यह उनके लिए फायदे की बात थी कि वे प्रशासन के निचले स्तरों में भर्ती के लिए भारत के मूल निवासियों को प्रशिक्षित करें। इसलिए उन्होंने नये स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालयों की स्थापना की जिनका नाम अंग्रेजीराज के लिए वफादार पढ़े–लिखे भारतीय तैयार करना था। कुछ व्यक्तियों, धार्मिक मिशनरियों, जाति और धार्मिक संस्थाओं ने भी आधुनिक पद्धति की शिक्षा को बढ़ावा दिया। अंग्रेजी शासकों ने व्यवसाय के जो नये अवसर बनाये उनका इन आधुनिक शिक्षा संस्थाओं से निकले लोगों ने हैसियत, पैसा और ताकत पानेके लिए खूब दोहन किया।

बहरहाल, भारत में औपनिवेशिक राज के दौरान औपचारिक शिक्षा की एक समांतर व्यवस्था भी उभरी। भारतीय राजकुमारों, सरदारों और जागीरदारों के बेटों के लिए शिक्षा की श्रेणी सुविधाओं वाले अंग्रेजी माध्यम के अलग स्कूल और कालेज खाले गये ताकि वे अंग्रेजी राज के वफादार समर्थक बनें। मसलन, राजकुमार कालेज (1968), मेयो कालेज (1873), डाली कालेज (1898), जागीरदाास कालेज (1923), लारेंस स्कूल (1847), लवडेल (1858), सदूल स्कूल (1893) और सिंधिया स्कूल (1857)। विशेष अधिकार प्राप्त वर्ग के लिए जो अन्य प्रतिष्ठित तथाकथित पब्लिक स्कूल खोले गये उनके नाम हैं– दून स्कूल (1935), मार्डन स्कूल (1925), बिड़ला पब्लिक स्कूल (1944) और यावेंद्र पब्लिक स्कूल (1948)। ये तथाकथित पब्लिक स्कूल केवल औपचारिक तौर पर सबके लिए खुले थे। आजादी के बाद, भारत सरकार ने औद्योगिकरण और कृषि क्षेत्र को बढ़ावे के जरिये देश के तेज विकास का लक्ष्य बनाया। समाज के सबसे पिछड़े वर्ग अर्थात् अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जन जातियों, की भलाई के लिए विशेष कदम उठाये गये। शिक्षा संस्थाओं में उनके लिए आरक्षण लागू किया और फीस माफी और वजीफों की व्यवस्था की गयी।

आजादी के बाद से शिक्षा के क्षेत्र में काफी प्रगति हुई है। साक्षरता की दर 1957 में 17 प्रतिशत से बढ़कर 1981 में 36 प्रतिशत हो गयी। शिक्षा के सभी स्तरों की शिक्षा संस्थाओं की गिनती में बढ़ोत्तरी हुई है। लेकिन कुल मिलाकर स्थिति इतनी सुखद नहीं है। निरक्षरों की कुल संख्या इन वर्षों में बढ़ी है। विश्व के निरक्षरों की आधी संख्या भारत में पायी जाती है। लड़कियां शिक्षा के क्षेत्र में अब भी लड़कों से पिछड़ी हैं। ग्रामीण लोग शिक्षा के सभी स्तरों पर शहरियों से बहुत पीछे हैं।

इसके अलावा, समांतर और असमान शिक्षा व्यवस्था आजादी के बाद भी बरकरार है। विशेष अधिकार प्राप्त, अमीर और शक्तिशाली वर्ग के बच्चे बढ़िया साज–समान वाले सशुल्क, अंग्रेजी माध्यम स्कूलों में पढ़ते हैं, जिससे वे ऊँची सामाजिक प्रस्थिति, शक्ति और बेहतर आय वाली बेहतर नौकरियां हासिल कर लेने में समर्थ होते हैं। वास्तव में, अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों की संख्या में काफी बढ़ोत्तरी हुई है। इधर कुछ वर्षों से ऐसे स्कूल ग्रामीण क्षेत्रों में भी खोले जा रहे हैं जहां वे इस समाज के उन धनी वर्गों की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं, जो आकर्षक नौकरी के अवसरों के फायदों को समझ गये हैं। इसके अलावा, सरकार ने पब्लिक स्कूलों की प्रणाली पर स्कूल खोलकर समांतर शिक्षा व्यवस्था को मजबूत कर दिया है, ऐसे कुछ स्कूल हैं– सैनिक स्कूल, केन्द्रीय विद्यालयऔर हाल में खुले नवोदय विद्यालय।

इन तथाकथित पब्लिक स्कूलों और सरकारी कुलीन स्कूलों से निकले विद्यार्थी कुलीन महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों और इंडियन इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलाजी, इंडियन इंस्टीट्यूट आफ मैनेजमेंट और मेडिकल कालेजों जैसी चोटी की संस्थाओं में भर्ती का सबसे बड़ा हिस्सा हथिया लेते हैं। इसके अलावा, विशेष अधिकार प्राप्त वर्ग के अयोग्य बच्चों को हजारों और लाखों की कैपिटेशन शुल्क को देकर इंजीनियरिंग, मेडीसन और प्रबंधन की निजी संस्थानों में दाखिला मिल जाता है, लेकिन गरीब और पिछड़े वर्गों के बच्चे घटिया साज–सामान वाले सरकारी प्रबंध के स्कूलों में क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से पढ़ते हैं। इन स्कूलों से निकले अधिकतर विद्यार्थी ऊँची कक्षाओं में जाते–जाते पढ़ना छोड़ देते हैं उन्हें कम आय और नीची हैसियत की नौकरियां मिलती हैं। शिक्षा आयोग (1964–66) से सही टिप्पणी दी है : फिर स्वयं शिक्षा में पृथक्करणहोता है–अल्पसंख्यक निजी

सशुल्क, बेहतर स्कूल तो ऊँचे वर्गों की आवश्कताओं को पूरा करते हैं और अधिकांश संस्था में मुफ्त, सरकारी प्रबंध वाले लेकिन घटिया स्कूलों का उपयोग बाकी करते हैं। इससे भी खराब बात यह है कि पृथक्करण बढ़ रहा है और जनसाधारण के बीच की खाई को और चौड़ा कर रहा है।

30.4 जाति और शिक्षा का वर्णन

भारत में जाति व्यवस्था की सामाजिक संस्था पुरानी है। सामाजिक जीवन के एक बड़े क्षेत्र पर अब भी इसका प्रभाव है, हालांकि आधुनिक काल में इसकी कुल पकड़ ढीली हुई है। जाति व्यवस्था के श्रेणीबद्ध, असमानतावादी और रूढ़ ढांचे के प्रतिबिम्ब को शिक्षा के क्षेत्र में देखा जा सकता है। पारंपरिक अवस्था में ब्राह्मण ग्रंथों ने शूद्र और अछूत जैसे निचले वर्गों के संस्कृत के अध्ययन पर पाबंदी लगायी हुई थी। इस तरह, उनके लिए शिक्षा देने वाले, टोलों, पाठशालाओं और मंदिरों के दरवाजे बंद थे। निचली जातियों को अपनी आजीविका कमाने के लिए अपने पारंपरिक व्यवसायों को ही अपनाना पड़ता था और ऊँची, धनी और विशेष अधिकार प्राप्त जातियों की सेवा करनी पड़ती थी। अंतर्जातीय विवाह और अंतर्जातीय खान–पान पर अब भी काफी हद तक पाबंदी है। पारंपरिक अवस्था में जातियों के बंटवारे और नीची जातियों की निम्न सामाजिक और कर्मकांडी स्थिति ने उनके लिए नकारात्मक मनोवैज्ञानिक परिणाम बनाये।

उपनिवेश काल में वर्णन

भारत में अंग्रेजी राज्य के दौरान शिक्षा को सभी के लिए मुफ्त रखा गया था, चाहे उनकी जाति, पंथ, धर्म, प्रजाति या लिंग कोई भी हो। लेकिन यह मुक्तता मुख्य तौर पर सैद्धांतिक थी। ऊँची जातियों के पास बेहतर आर्थिक स्थिति और ज्ञान की परंपरा थी। इसलिए नौकरी के नये अवसरों को वे हथिया लेते थे। नीची जाति के लोग शिक्षा के सभी स्तरों पर काफी पीछे थे। इसलिए, उन्हें व्यवसाय के नये अवसरों के उचित लाभ नहीं मिल पाते थे। जाति परआधारित स्तरीकरण का प्रभाव भारत में औपनिवेशिक राज के दौरान की शिक्षा पर स्पष्ट दिखायी देता है। समाज में विभिन्न जातियों के बीच शिक्षा का अत्यधिक असमान वितरण था।

हमें यह देखने को मिलता है कि जाति की श्रेणीबद्धता में सबसे ऊँची श्रेणी पर रखे जाने के कारण ब्राह्मणों का सभी स्तरों पर शिक्षा के दाखिलों में सामान्य से अधिक प्रतिनिधित्व है। हालांकि 1881 में बम्बई प्रेसीडेंसी की कुल आबादी में उनका प्रतिशत छह था, फिर भी छात्रों के दाखिले में उनका अनुपात प्रारम्भिक या प्राइमरी स्तरपर लगभग 37 प्रतिशत, हाई और मिडिल स्कूल स्तर पर 51 प्रतिशत और कालेज स्तर पर 66 प्रतिशत था। दूसरी ओर, ''अन्य सभी'' की श्रेणी में रखे गये खेतिहर, दस्तकार और निचली जातियों के छात्रों का अनुपात प्राइमरी, सेकेंडरी और कालेज स्तरों पर क्रमशः 35, 16 और 6 प्रतिशत था। यह देखते हुए कि प्रेसीडंसी की कुल आबादी में उनका प्रतिशत 75 था, शिक्षा के सभी स्तरों पर उनका प्रतिनिधित्व बहुत ही कम है। इसे अलावा, नीचे से ऊँचे स्तर की शिक्षा की ओर बढ़ते हुए भी उनके अनुपात में भारी गिरावट मिलती है। क्षत्रिय, मुंशी और व्यावसायिक जातियों के छात्रों का अनुपात इन दो चरम समूहों के बीच रहता है। अनिल सील ने दूसरी प्रेसीडंसियों में भी ऐसी ही शैक्षिक स्थिति देखी है। बंगाल प्रेसीडेंसी में, कुल हिन्दू आबादी के केवल लगभग 10 प्रतिशत वाले ब्राह्मण और कायस्थों ने (1881 की जनगणना के अनुसार) 1883–84 में कालेज, हाईस्कूल और निम्न प्राइमरी स्कूल के स्तरों पर 84.7, 73.4 और 34.5 प्रतिशत सीटें हथिया रखे

थे। मद्रास प्रेसीडेंसी में, ब्राह्मण छात्रों का प्रतिशत कालेजों में 74.6, सेकेंडरी स्कूलों में 45.5 और प्राइमरी स्कूल स्तर पर 14.4 था। लेकिन शूद्र जाति के छात्रों का प्रतिशत कालेज स्तर पर 21.7 सेकेंडरी स्कूल के स्तर पर 45.8 और प्राइमरी स्कूल के स्तर पर 68.4 था। वैश्य जाति के छात्रों के कालेज, सेकेंडरी स्कूल और प्राइमरी स्कूल के स्तरों पर क्रमशः अनुपात 3.2, 5.6 और 10 प्रतिशत था।

स्वातंत्र्योत्तर काल में उल्लेख

भारत में आजादी के बाद विकास का जो मार्ग अपनाया गया उसने जाति व्यवस्था और शिक्षा के संबंध को कमजोर किया है। पिछड़े वर्ग के उत्थान के लिए जो विशेष उपाय किये गये हैं उन्होंने इन्हें योग्य बना दिया है कि वे शिक्षा के बढ़ते अवसरों का कुछ लाभ उठा सकें। फिर भी, व्यक्ति की शैक्षिक उपलब्धियों पर जाति का अब भी काफी प्रभाव पड़ता है। शिक्षा आयोग (1964–68) के आकलन के अनुसार :

भारतीय समाज श्रेणीबद्ध, स्तरीकृत और उर्ध्वाधर गतिशीलता में अक्षम है। विभिन्न वर्गों विशेष तौर पर धनी और निर्धन के बीच सामाजिक दूरी काफी अधिक है, जो और भी अधिक होती जा रही है और यह तस्वीरऔर भी पेचीदा हो जाती है जाति के कारण, जो एक अलोकतांत्रिक संस्था है जो अब भी शक्तिशाली है और जिसमें लगता है, उसने अपना प्रभाव क्षेत्र संविधान की ही लोकतांत्रिक प्रक्रिया के तहत बढ़ा लिया है।

शिक्षा के सभी स्तरों तक विभिन्न जाति स्तरों की पहुंच असमान है। ऊँची जातियां कुल आबादी में अनुपात में कम होते हुए भी सामान्य शिक्षा में दाखिलों का एक बड़ा हिस्सा हथिया लेती है और तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा में तो ऐसा और भी ज्यादा होता है। अध्यापन के व्यवसाय में ऊँची जातियों का वर्चस्व है। चुनिंदा राज्यों के अपने अध्ययन में, देखा कि सभी स्तरों पर शिक्षा तक पहुंच के मामले में विभिन्न जाति स्तरों के बीच भारी असमानता व्याप्त है। मिडिल स्कूल के स्तर पर हरिजनों (अनुसूचित जातियों), मध्यम जातियों और ऊँची जातियों का अनुपात 5, 8 और 18 प्रतिशत है।

बड़ौदा के कालेजों और विश्वविद्यालयों के अपने अध्ययन में, बी.वी. शाह को ऊँची जातियों के छात्रों की बहुलता देखने को मिली। उन्होंने पाया कि ब्राह्मण, बनिया और पाटीदारों समेत ऊँची जातियों ने इंजीनियरिंग और डाक्टरी जैसी उच्च शिक्षा के क्षेत्रों में कुल स्थानों में से 88 प्रतिशत हथिया रखे थे। मध्यम और नीची जातियों का अनुपात क्रमशः 5 और 6 प्रतिशत था। अनुसूचित जातियों की हालत और भी बदतर थी इसके अतिरिक्त इलाहाबाद के छात्रों के अपने अध्ययन में जे. डी. बोना ने पाया कि ब्राह्मणों ने 42 प्रतिशत स्थान हथिया रखे थे और उनके बाद कायस्थों और क्षत्रियों की संख्या थी। कुल मिलाकर उनके पास कुल 81 प्रतिशत स्थान थे। पुणे और अलीगढ़ के कालेज स्तर के छात्रों के अध्ययन में ऊँची जातियों के छात्रों का ही बोलबाला देखने को मिलता है।

सरकार द्वारा कई कल्याणकारी उपाय किए जाने के बाद भी पिछड़ी जातियां शिक्षा के क्षेत्र में ऊँची जातियों से पीछे ही बनी हुई है। तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा जैसी उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भी यही हालत है। भारत के 13 राज्यों के अनुसूचित जाति के छात्रों के अध्ययन में, सुमा चिटनिस ने देखा कि जहां तक पंजीकरण या दाखिले का सवाह है, अनुसूचित जातियों के छात्र हर स्तर पर सामान्य छात्रों से पिछड़े हुए थे। वे प्राइमरी स्तर पर 7 राज्यों में, मध्यम स्तर पर 9 राज्यों में, हाईस्कूल स्तर पर 10 राज्यों में और विश्वविद्यालय स्तर पर 12

राज्यों में पीछे थे। इसके अलावा, यह भी देखा गया कि जैसे–जैसे शिक्षा का स्तर बढ़ता गया, वैसे–वैसे उनके दाखिले का अनुपात कम होता गया। चिटनिस ने यह भी पाया कि मुम्बई में अनुसूचित जातियों के छात्रों के दाखिले अधिकतर कम प्रतिष्ठित, गैर कुलीन और गुणात्मक तौर पर घटिया संस्थाओं में हुए।

इसके अलावा यह भी देखा गया है कि अध्यापन के व्यवसाय में नीची जातियों का प्रतिनिधित्व बहुत कम है। 8 राज्यों से इकट्ठा किए गए आंकड़ों पर आधारित अखिल भारतीय रपट के अनुसार ऊँची जातियां पुरुष और महिला प्राइमरी अध्यापकों में सबसे बड़े जाति समूह के रूप में सामने आती है। यह रपट 1966–67 में एम.एस. गोरे, आई.पी. देसाई और चिटनिस ने तैयार की थी। ऊँची जातियों में पुरुष अध्यापकों का प्रतिशत 55 और 85 के बीच था। ऊँची जातियों की महिला अध्यापकों का प्रतिशत 70 और 95 के बीच था। माध्यमिक स्तर पर, प्राइमरी स्तर की तुलना में पुरुष और महिला अध्यापकों के प्रतिशत में बढ़ोत्तरी पायी गयी। दूसरी ओर, माध्यमिक स्तरपर अनुसूचित जातियों और अन्य पिछड़ी जातियों के अध्यापकों के प्रतिशत में गिरावट पायी गयी। राजस्थान विश्वविद्यालय के अध्यापकों के अपने अध्ययन में योगेन्द्र सिंह ने पाया कि इस व्यवसाय में ऊँची जातियों का बोलबाला था। ऊँची जातियों के अध्यापकों का प्रतिशत 80 से भी ऊपर था। केवल 0.4 प्रतिशत अध्यापक नीची जातियों के थे।

30.5 व्यवसाय और शिक्षा का वर्णन

भारत में अंग्रेजी राज के दौरान व्यवसाय के ढांचे में एक बड़ा बदलाव हुआ है। जाति के आधार पर निर्धारित पारंपरिक व्यवसाय औपनिवेशिक प्रशासन के लिए उपयुक्त नहीं थे। अंग्रेज शासकों को प्रशासन के निचले स्तरों पर काम करने के लिए कम लागत वाले स्वदेशी (भारतीय) चाहिए थे।

उपनिवेश काल

प्रशासन की नई आवश्यकताओं ने एक नयी शिक्षा व्यवस्था को जन्म दिया जिसे अंग्रेजों के लिए वफादार नौकर पैदा करने के अनुकूल बनाया गया। ज्ञान की परंपरा रखने वाले ऊँची जाति और वर्ग के लोगों ने नयी शिक्षा हासिल की और उन्हें नयी नौकरियां मिल गयी। नये व्यावसायिक स्तरों का विकास हुआ, विशेष तौरपर, निजी व्यवसाय और वाणिज्य, व्यापार और उद्यम और सरकार के अधिशासी स्तर के काम और मुख्य तौर पर इन्हीं व्यावसायिक स्तरों और बड़े जागीरदारों के बच्चे (छात्रों) ने नयी शिक्षा के अवसरों को हथियाया। आबादी के बहुसंख्यक मजदूर और किसान अपने सामाजिक–आर्थिक पिछड़ेपन के कारण पीछे छूट गये।

विभिन्न औपनिवेशिक प्रेसीडेंसियों से उपलब्ध आंकड़ों से पता चलता है कि शिक्षा तक पहुंच के मामले में नये व्यावसायिक स्तरों के व्यक्तियों और समाज के पिछड़े वर्ग के बीच बड़ी खाई थी। बम्बई प्रेसीडेंसी में कुल स्थानों में से 30 प्रतिशत स्थान, 1877–78 में, सरकारी नौकरी वाली पृष्ठभूमि के छात्रों ने घेरे। जिन छात्रों के माता–पिता निजी क्लर्क, व्यवसाय, पुरोहित और वाणिज्य की पृष्ठभूमि वाले थे उनका 44 प्रतिशत स्थानों पर कब्जा था। खेतिहर और पारंपरिक कलाओं और दस्तकारियों वाली पृष्ठभूमि के व्यक्तियों को केवल 27 प्रतिशत के आस–पास स्थान मिले जबक कुछ आबादी में उनका प्रतिशत लगभग 80 था। किसानों और मजदूरों का प्रतिनिधित्व इतना कम था कि वे एक अलग वर्ग के रूप में उल्लेख किये जाने के काबिल भी नहीं थे।

इसके अलावा, मद्रास प्रेसीडेंसी में काश्तकारों के हिस्से में स्कूलों और कालेजों के सबसे अधिक स्थान थे। 1883–84 में, माध्यमिक स्कूलों और कालेजों में कुल दाखिलों में उनका प्रतिशत क्रमशः 30 और 38 था। माध्यमिक स्कूलों और कालेजों में अधिकारी स्तर के माता–पिता वाले छात्र क्रमशः 18 और 29 प्रतिशत थे। छोटे स्तर के कर्मचारियों और व्यापारियों के बच्चे माध्यमिक स्कूलों में 31 प्रतिशत और कालेज स्तर पर 19 प्रतिशत थे। इस मामले में भी आबादी में बहुत संख्या वाले किसानों और मजदूरों का उल्लेख एक अलग वर्ग के रूप में नहीं हुआ है। यह भी देखा गया है कि काश्तकारों और अधिकारियों जैसे विशेष अधिकार प्राप्त व्यावसायिक वर्गों के आने वाले छात्रों का अनुपात स्कूल से कालेज स्तर तक बढ़ता गया, लेकिन तुलनात्मक तौर पर निम्न व्यावसायिक वर्गों के छात्रों के अनुपात में गिरावट आयी।

स्वातंत्र्योत्तर काल में वर्णन

आजादी के बाद शिक्षा के प्रसार के फायदे अधिकतर सेवाओं, व्यवसायों, व्यापार और जमींदार वर्ग के लोगों ने लिये। तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र में स्थिति और भी अन्यायपूर्ण और असमानतावादी है। सेवाओं, व्यवसायों और व्यापारिक स्तरों के लोगों का इस क्षेत्र पर एकाधिकार है।

सेवा (नौकरी) और व्यावसायिक स्तरों के व्यक्तियों ने भारतीय प्रौद्योगिक संस्थान (इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी), रीजनल इंजीनियरिंग कालेज, दूसरे इंजीनियरिंग कालेजों और मेडिकल कालेजों में, 1965 में कुल स्थानों में से क्रमशः 68, 48, 43 और 50 स्थान हथियाये। व्यापारिक पृष्ठभूमि के छात्रों का प्रतिशत कुल 19 था। आबादी की बड़ी संख्या वाले खेतिहर और अन्य वर्गों के छात्रों के हिस्से में केवल 28 प्रतिशत स्थान हीं आये। किसानों और मजदूरों का तो एक अलग वर्ग के रूप में उल्लेख भी नहीं मिलता।

कुछ चुनिन्दा जातियों ने अपने अध्ययन में, गोरे, देसाई और चिटनिस ने पाया कि ग्रामीण व्यवसायों, शहरी अधिशासी वर्ग के व्यवसायों, छोटे व्यापार धंधों और मजदूर वर्ग से आने वाले पुरुष छात्रों का प्रतिशत व्यावसायिक कालेजों में क्रमशः 25, 49, 15 और 5 था। इसके अलावा, डी. बोना के इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अध्ययन में यह देखने को मिलता है कि सेवाओं और व्यवसायों, व्यापार–धंधों, खेती और अन्य व्यावसायिक स्तरों के छात्रों का प्रतिशत क्रमशः 42, 13 और 33 था।

इसके अलावा, यह देखा गया कि उच्च स्तरवाले सशुल्क पब्लिक स्कूल केवल व्यापार, सेवाओं, व्यवसायों और बड़े काश्तकारों के विशेष अधिकार प्राप्त वर्ग के लिए है। 1951–52 में यह पाया गया कि दून स्कूल में सेवाओं, वाणिज्य और उद्योग, और जमींदारों के स्तरों के छात्रों का अनुपात क्रमशः 46.8, 35.0 और 18.2 था। दूसरे स्तरों का एक भी छात्र नहीं था। इसके अलावा, एल्फ्रेड डिसूजा ने पांच प्रतिशत स्कूलों– ब्लू वैली, लेक व्यू, रिक्साइड, पाइनग्रोव और ग्रीन हील– का अध्ययन किया। उनके निष्कर्षों से पता चलता है कि इन स्कूलों पर ऊँचे व्यवसायों, सेवाओं और व्यापारिक स्तर से आये हुए व्यक्तियों का एकाधिकार है। इन पांच पब्लिक स्कूलों में ऊँचे व्यवसायों और सेवाओं की पृष्ठभूमि वाले छात्रो ने 70.56 प्रतिशत स्थान घेरे हैं जबकि व्यापार (जिसमें बागान भी शामिल है) की पृष्ठभूमि वाले छात्रों का अनुपात 16.67 प्रतिशत है। धनी किसानों के बच्चों के पास केवल 5.41 स्थान है। लेकिन आबादी की बहुल संख्या वाले किसानों और मजदूरों की कुलीन पब्लिक तक कोई पहुंच नहीं है।

30.6 आय और शिक्षा : विविध काल में

विभिन्न सामाजिक स्तरों की आय के स्तर का उनकी शैक्षिक उपलब्धियों पर प्रभाव पड़ता है। शिक्षा तक पहुँच ऊँची आय वाले स्तरों के लिए अधिक और नीची आय वाले स्तरों के लिए कम है। मध्यम वर्ग के स्तर इनके बीच स्थित होते हैं। प्रारंभिक से उच्च शिक्षा की ओर बढ़ते हुए, उच्च आय स्तरों के छात्रों के अनुपात में बढ़ोत्तरी होती जाती है। इसके विपरीत, निम्न स्तरों के छात्रों का अनुपात प्रारम्भिक से उच्च शिक्षा की ओर जाते हुए, घटता जाता है। इसका करण मुख्य तौर पर गरीबी के कारण इस स्तर के छात्रों का पढ़ाई छोड़ देना है। इसके अलावा, शिक्षा के उपलब्ध अवसरों की सबसे बड़ी संख्या मध्यम वर्गों के हाथ लगते हैं। इसका कारण यह है कि आबादी में उनका अनुपात काफी अधिक होता है और वे बच्चों के लिए शिक्षा का प्रबंध करने की स्थिति में होते हैं।

समाज के धनी वर्ग के छात्र बेहतर स्कूलों और कालेजों में शिक्षा पाते हैं। इसके फलस्वरूप, उन्हें बेहतर वेतन वाली नौकरियां और व्यवसाय मिल जाते हैं।, जिसके बूते पर वे अपनेबच्चों को बेहतर स्कूल–कालेजों में पढ़ा लेते हैं। इसके विपरीत, गरीब लोग अपने बच्चों को केवल घटिया शिक्षा संस्थाओं में ही दाखिला करा पाते हैं। कम पढ़े– लिखे लोग कम वेतनवाली नौकरियों और व्यवसायों में जाते हैं। इसलिए वे अपने बच्चों को भी घटिया स्कूलों में पढ़ा पाते हैं। यह आय और शिक्षा का कुचक्र है जिसमें गरीब तो गरीब ही रहताहै और अमीर लोग अमीर ही बने रहते हैं। यह आम प्रवृत्ति है। फिर भी, अपवाद इस क्षेत्र में भी मिलते हैं। गरीब सामाजिक स्तरों के कुछ व्यक्तियों अपनी बेहतर शैक्षिक उपलब्धियों के बल पर अमीर स्तरों में प्रवेश पा लेते हैं, जिससे वे बेहतर आय कमा लेते हैं और अपने बच्चों को बेहतर शिक्षा दिलाने की स्थिति में आ पाते हैं।

उपनिवेश काल में वर्णन

उपनिवेश काल के दौरान विभिन्न आय स्तरों के लोगों की शिक्षा तक पहुंच असमान थी। 1883–84 के दौरान बंगाल में विभिन्न आय स्तरों के लोगों की शिक्षा तक पहुंच अत्यधिक असमान थी। उच्च आय स्तरों (5000 रु. तक की वार्षिक आय वालों) का शिक्षा में प्रतिनिधित्व सामान्य से अधिक था, जबकि निम्न आय स्तरों (200 रु. तककी वार्षिक आय वालों) का प्रतिनिधित्व कुल आबादी में उनके अनुपात को देखते हुए बहुत ही कम था। आबादी का एक बहुत छोटा हिस्सा घेरने वाले उच्च आय के लोगों के हिस्से में, कालेज स्तर पर, 13 प्रतिशत स्थान थे। उनका अनुपात निम्न प्राइमरी स्तर में 0.3 प्रतिशत से हाईस्कूल स्तर पर 7 प्रतिशत और कालेज स्तर पर 13 प्रतिशत तक क्रमशः बढ़ता गया था। लेकिन निम्न आय वर्ग के छात्रों की संख्या में भारी गिरावट आयी थी, जबकि आबादी में उनकी संख्या सबसे अधिक थी। उनका अनुपात निम्न प्राइमरी स्तर में 88 प्रतिशत से हाईस्कूल स्तर पर 26 प्रतिशत और कालेज स्तर पर 9 प्रतिशत तक घटता गया। मध्यम आय वर्ग के (200 रु. से 5000 रु. तक की वार्षिक आय वालों) के छात्रों के मामलों में निम्न प्राइमरी स्तर में 12 प्रतिशत, हाईस्कूल स्तरपर 67 प्रतिशत और कालेज स्तरपर 78 प्रतिशत के क्रम से बढ़ोत्तरी हुई।

इस तरह हम देखते हैं कि निम्न प्राइमरी से कालेज स्तर तक उच्च आय स्तरों के छात्रों के अनुपात में 43 गुना बढ़ोत्तरी हुई। लेकिन निम्न आय स्तरों के मामले में 10 गुना गिरावट आयी। इसके अलावा, यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है

कि सेंकेडरी स्तर और उससे ऊपर की शिक्षा सुविधाओं का मुख्य रूप से उपभोग मध्यम आय स्तरों ने किया।

स्वातंत्र्योत्तर काल में वर्णन

आजादी के बाद भी, यह देखा गया है कि शिक्षा की प्रगति के लाभों का वितरण समाज के विभिन्न आय स्तरों के बीच समान नहीं हुआ है। उच्च आय स्तरों को सबसे अधिक लाभ मिला है। आबादी में उनका अनुपात कम होते हुए भी उन्होंने शिक्षा के उपलब्ध अवसरों का एक काफी बड़े हिस्से का उपयोग किया है। आबादी में एक बड़े अनुपात में उपस्थित मध्यम आय स्तरों ने विशेष तौर पर उच्चतरशिक्षा में, सबसे अधिक स्थान हथियाये हैं। निम्न आय स्तरों की आबादी उच्च और मध्यम आय स्तरों की अपेक्षा अधिक है। शिक्षा के प्रारंभिक स्तर पर उनका अनुपात दूसरे स्तरों की तुलना में कही अधिक है। लेकिन श्क्षिा का स्तर बढ़ने के साथ–साथ उनका अनुपात घटता जाता है और उच्च शिक्षा के क्षेत्र में घटकर सबसे कम हो जाता है। उनका प्रतिनिधित्व तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा में उच्च आय स्तरों की तुलना में बहुत ही कम है। इसके अलावा, गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाले हमारे समाज के निम्नतम वर्ग की, आजादी के चालीस वर्ष बाद भी औपचारिक शिक्षा तक कोई पहुंच नहीं है, जबकि आबादी में उनका प्रतिशत लगभग 40 है। यह इस तथ्य से पता चलता है कि 1981 की जनगणना में कुल आबादी के 64 प्रतिशत लोग निरक्षर पाये गये।

गुजरात के बड़ौदा जिले के हाईस्कूल के छात्रों के अध्ययन में बी.जी. देसाई ने पाया कि माध्यमिक शिक्षा तक विभिन्नआय स्तरों की पहुंच असमान थी। इस अध्ययन के अनुसार 18 प्रतिशत छात्र बहुत अच्छी और अच्छी आय पृष्ठभूमि से थे, 19 प्रतिशत औसत आय स्तर से और 63 प्रतिशत छात्र साधारण और गरीब आय समूहों के थे।

लेकिन उच्चतर शिक्षा पर जाकर स्थिति बदल जाती है। शिक्षा आयोग की रपट (1964–66) में यह देखने को मिलताहै कि भारतीय प्रौद्योगिक संस्थान (आई. आई.टी.) में जो कि सबसे महत्वाकांक्षी सस्थाओं में से एक है, उच्च आय स्तरों (500 रु. प्रतिमाह से ऊपर) के छात्रों की संख्या सबसे अधिक थी। इन संस्थानों में उन्होंने 59 प्रतिशत स्थान घेरे हुए थे। लेकिन निम्न आय स्तरों (रु. 150 से कम प्रतिमास) के छात्रों को केवल 7 प्रतिशत स्थान मिले। मध्यम आय स्तरों को, जिनमें उच्च मध्यम और निम्न मध्यम दोनों स्तर आ जाते हैं (रु. 151 से 500 प्रतिमास आय वाले), इन संस्थानों में कुल 35 प्रतिशत स्थान मिले। जहां तक मेडिकल कालेजों का संबंध है उच्च, मध्यम और निम्न आय स्तरों के हिस्से में क्रमशः 26, 43 और 31 प्रतिशत स्थान आते हैं। क्षेत्रीय इंजीनियरिंग कालेजों औरअन्य इंजीनियरिंग कालेजों में उनके हिस्से औसतन क्रमशः 15, 25 और 36 प्रतिशत स्थान आते हैं।

इसके अलावा, व्यावसायिक प्रतिमान की तरह, पब्लिक स्कूल के छात्रों के अभिभावकों की मासिक आय से भी यह बात सामने आती है कि स्कूल सामाजिक तौर पर एक विशिष्ट समूह के लिए है। उन तक केवल उन सामाजिक समूहों की पहुंच है जो स्तरीकरण व्यवस्था में शीर्ष स्थानों पर हैं। पब्लिक स्कूलों के अपने अध्ययन में डिसूजा ने पाया कि केवल 3 प्रतिशत छात्रों के अभिभावकों की मासिक आय एक हजार रुपये और उससे कम थी। 39 प्रतितशत छात्रों के अभिभावकों की मासिक आय रु. 1001 से 2000 तक, 50 प्रतिशत छात्रों के अभिभावकों की 2001 और 4000 के बीच और 5 प्रतिशत की रु. 4001 से 5000 तक थी। पब्लिक स्कलों

में पढ़ाई के लिए सरकार आर्थिक रूपसे पिछड़े वर्ग के छात्रों को योग्यता के आधार पर कुछ वजीफे भी देती है। फिर भी 1980 के दशक में भी, पब्लिक स्कूलों में छात्रों का अनुपात लगभग वही देखा गया।

30.7 गतिशीलता, शिक्षा एवं सामाजिक बदलाव

उपर्युक्त विवरण से सामाजिक स्तरीकरण और शिक्षा के संबंध के केवल एक पहलू पर रोशनी पड़ती है। इससे यह धारणा बन सकती है किआधुनिक शिक्षा का लाभ केवल उन लोगों को मिलता है जो सामाजिक, आर्थिक रूप से अच्छी स्थिति में हैं और जो विभिन्न आधुनिक व्यवसायों के क्षेत्र में हैं। विवरण का दूसरा पहलू कहता है कि औपचारिक शिक्षा के लाभ कमोवेश हरेक को मिलते हैं, चाहे उनकी जाति, व्यवसाय और आर्थिक पृष्ठभूमि कुछ भी हो।

पारंपरिक भारतीय समाज में शिक्षा संस्थाओं पर निश्चित रूपसे ऊँची जातियों/वर्गों के लोगों का एकाधिकार था। इसमें कोई शक नहीं कि शिक्षा के अवसरों का बड़ा हिस्सा प्रभुत्वशाली तबकों के लोग हथिया लेते थे, लेकिन बहुधा पिछड़े समुदाय के लोगों ने भी शिक्षा संस्थाओं का लाभ उठाया है। इसके प्रमाण में एकलव्य और कर्ण के पौराणिक चरित्रों का उदाहरण दिया जा सकता है।

भारत में औपनिवेशिक राज के पदार्पण के साथ पारंपरिक शिक्षा व्यवस्था की जगह अंग्रेजी ढंग की औपचारिक शिक्षा ने ले ली। नयी शिक्षा व्यवस्था धर्मनिरपेक्ष और कहीं अधिक मुक्तथी। अब, स्कूलों और कालेजों में दाखिला लेने में किसी भी समुदाय पर कोई पाबंदी नहीं थी। यह एक बिल्कुल अलग मामला है कि आपौनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था भी हमारे समाज के विशेष अधिकार प्राप्त वर्ग के लिए कहीं अधिक लाभकारी साबित हुई है। लेकिन तथ्य अब भी यही है कि अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और दूसरे पिछड़े वर्गों के लोगों के पास औपचरिक शिक्षा की विभिन्न संस्थाओं में दाखिला लेने का विकल्प था। अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों जैसे कमजोर वर्गों के उत्थानके लिए अनेक सुविधाएं हैं। उनके लिए फीस माफी और वजीफे की व्यवस्था है। उनके लिए विभिन्न शैक्षिक संस्थाओं में दाखिले लेने के लिए आयु सीमा और अंक प्रतिशत में भी छूट की व्यवस्था है। उचित आवास के लिए उनके लिए कई स्थानों पर अलग छात्रावास बनाये गये हैं।

शिक्षा व्यवस्था में बदलावों का ऊपर जो संक्षेप में विवरण दिया गया है उनके परिणामस्वरूप व्यापक तौर पर सामाजिक बदलाव और गतिशीलता की स्थिति बनी है। आजाद भारत में हमारे समाज के परंपरा से पिछड़े वर्गों ने अपनी जीवन दशाओं में काफी सुधार किया है। वे अपेक्षित स्तर तक तो नहीं उठ पाये हैं, फिर भी जीवन के हर क्षेत्र में उनकी प्रभावशाली उपस्थिति है। विशेष तौरपर राजनीति के क्षेत्र में अन्य पिछड़ी जातियां एक जबरदस्त शक्ति के रूपमें उभरी है। इस प्रक्रिया में उनके पढ़े–लिखे नेताओं ने सबसे बड़े प्रेरक के रूप में काम किया है।

30.8 सारांश

सामाजिक स्तरीकरण सभी समाजों में समान है। यह शिक्षा व्यवस्था को बहुत हद तक प्रभावित करता है। विभिन्न सामाजिक स्तरों का शिक्षित होने की

क्षमता पर सामाजिक स्तरीकरण के सामाजिक प्रस्थिति और वर्ग स्थिति जैसे अनेक आयामों का प्रभाव पड़ता है।

व्यावसायिक भेद और विशेषज्ञता के विकास के साथ, सामाजिक स्तरीकरण की वर्ग–जाति व्यवस्था में वैदिक काल के उत्तरार्द्ध से और उसके बाद स्थिरता आयी। ब्राह्मणों ने वैदिक अध्ययन और पुरोहिती में विशेषज्ञता हासिल की। दूसरी द्विज जातियों को भी टोलों और पाठशालाओं में पढ़ने की अनुमति थी। लेकिन, शूद्रों, स्त्रियों और अछूतों के धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ने पर पाबंदी थी। निम्न जातियों को अपनी जाति के पारंपरिक व्यवसायों को ही अपनाना पड़ता था। विशेष अधिकारों से वंचित लोगों के लिए संवाद का माध्यम प्राकृत या पाली भाषा थी। इस तरह की दोहरी और समांतर शिक्षा व्यवस्था भारत में हिन्दुओं के बीच मध्यकाल के दौरान बनी रहीं। इसके अलावा, मुसलमानों ने भी इस्लाम की शिक्षा के लिए अपनेमकतबे और मदरसो बना लिये। फारसी को दरबारी भाषा और शिक्षा माध्यम के रूप में भी अपनाया गया। लेकिन आबादी के बहुसंख्यक विशेष अधिकारों से वंचित गर्व, जिसमें किसान, दस्तकार और मजदूर आते थे– विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में ही पारंपरिक हुनर सीखते थे।

भारत में औपनिवेशिक राज के दौरान एक आधुनिक शिक्षा व्यवस्था के विकास के बारे में भी हमने चर्चा की। प्राइमरी से विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा देने वाली संस्थाओं को सभी के लिए मुक्त रखा गया है, चाहे उनकी जाति, धर्म, प्रजाति या लिंग कुछ भी हो। लेकिन, फिर भी, नई शिक्षा व्यवस्था के लाभ मुख्य तौर पर उंची जातियों और वर्गों ने ही हथियाये। इसके अलावा, अंग्रेजी काल के दौरान एक समांतर शिक्षा व्यवस्था व्याप्त रही। अच्छे साज–समान वाले, अंग्रेजी माध्यम के तथाकथित पब्लिक स्कूल विशेष अधिकार प्राप्त जातियों और वर्गों की आवश्यकताओं को पूरा करते थे। लेकिन विशेष अधिकारो से वंचित लोगों के बच्चों को घटिया स्कूलों और कालजों में जाना होता था। इसके अलावा, इस समांतर शिक्षा व्यवस्था को, आजादी के बाद, सरकार ने, सैनिक स्कूल, केन्द्रीय विद्यालय और हाल में नवोदय विद्यालय खोल कर और भी मजबूत कर दिया है। ये स्कूल निजी प्रबंध वाले पब्लिक स्कूलों की तर्ज पर बनाये गये हैं।

अनेक अध्ययनों की मदद से हमने देखा कि शिक्षा तक पहुंच के मामले में, विशेष तौर पर तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा जैसी उच्च स्तर की शिक्षा में, विभिन्न सामाजिक स्तरों के बीच काफी असमानता है। उंची जाति, व्यवसाय और आय स्तरों के लोगों को शिक्षा के सबसे अधिक लाभ मिले हैं। लेकिन निम्न स्तरों को बहुत कम लाभ मिले हैं, जबकि अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए मुफ्त सुविधाएं दी गयी हैं। इस तरह हम देखते हैं कि शिक्षा के क्षेत्र में विभिन्न सामाजिक स्तरों के बीच बहुत असमानता है। जाति, व्यवसाय और आय के संदर्भों में संरचित सामाजिक असमानता का प्रतिबिम्ब शिक्षा के क्षेत्र में देखने को मिलता है।

30.9 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. भारत में औपचारिक शिक्षा की समान्तर व्यवस्था का विकास हुआ?

   (क) प्राचीन काल (ख) मध्य काल

   (ग) उपनिवेश काल (घ) उपरोक्त सभी

2. किस विचारक ने इलाहाबाद के छात्रों का अध्ययन किया ?

(क) एस.सी. दूबे (ख) एम.एस. गोरे

(ग) ए.आर. देसाई (घ) जे.डी. बोना

3. किस वर्ग को प्राचीन भारत में बौद्धिक ग्रन्थ पढ़ने की पाबंदी थी?

(क) ब्राह्मण व क्षत्रिय (ख) वैश्य व शूद्र

(ग) शूद्र अछूत व स्त्रियाँ (घ) उपरोक्त सभी

4. पाँच पब्लिक स्कूलों ब्लू वैली, लेक व्यू, रिक्साइड,पाइनग्रोव व ग्रीन हिल का अध्ययन किया है।

(क) एम एस गोर (ख) एल्फ्रेड डिसूजा

(ग) आई पी देसाई (घ) के सुरेश सिंह

30.10 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1. ग
2. घ
3. ग
4. ख

इकाई–31

वर्गीय स्तरीकरण और सामाजिक गतिशीलता

इकाई की रूपरेखा

31.1 उद्देश्य

31.2 प्रस्तावना

31.3 ऐतिहासिक संदर्भ में

31.4 पारंपरिक भारत में उल्लेख

31.5 उपनिवेश काल में उल्लेख

31.6 खेतिहर वर्ग और सामाजिक गतिशीलता

31.7 शहर वर्ग और सामाजिक गतिशीलता

31.8 सारांश

31.9 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

31.10 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

31.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद छात्र–

1. वर्गीय स्तरीकरण व सामाजिक गतिशीलता के विविध पहलुओं से परिचित हो सकेंगे।
2. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत पारंपरिक भारत व उपनिवेश काल में सामाजिक गतिशीलता की स्थिति को समझ सकेंगे।
3. शहरी वर्ग के साथ सामाजिक वर्ग के संदर्भ में विविध विचारकों के मतों से परिचित हो पाएंगे।

31.2 प्रस्तावना

समाज में वर्गीय स्तरीकरण सम्बन्धी मार्क्स, बेवर इत्यादि विचारकों के मतों का उल्लेख किया गया है। वर्ग के अध्ययन के लिए दो दृष्टिकोण, गुणात्मक व अंतर्क्रियात्मक पर प्रकाश डाला गया है। गतिशीलता के स्वरूप की चर्चा भी की गयी है, जिससे सामाजिक गतिशीलता के प्रभाव इत्यादि को हम बेहतर तरीके से समझ सकेंगे। उर्ध्वगामी व अधोगामी गतिशीलता का उल्लेख किया गया है।

31.3 ऐतिहासिक संदर्भ में

भारतीय समाज का इतिहास युगों पुराना है। ग्रामीण, शहरी और आदिवासी बस्तियाँ इस देश में युगों से रही है, हालांकि उनके बीच अंतक्रिया विभिन्न अंशों में रही है। विभिन्न सामाजिक वर्गों का इस देश में उदय, विकास और पतन हुआ है।

31.4 पारंपरिक भारत में उल्लेख

अंग्रेजी राज से पूर्व की पारंपरिक भारतीय समाज कृषि प्रधान था। सामान्य से अधिक कृषि उत्पादन के फलस्वरूप कस्बों और शहरों, व्यापार और वाणिज्य का विकास हुआ और राज्य शक्ति का उदय हुआ और उसकी स्थिति मजबूत हुई। इन विकासों के साथ एक वर्गीय स्तरीकरण वाले समाज का भी विकास हुआ। पारंपरिक वर्गीय श्रेणियों में राजा, सामंती सरदार, पुरोहित, सौदागर, किसान, दस्तकार, मजदूर और गुलाम आते हैं।

इन वर्गीय श्रेणियों को दो बड़े वर्गों में रखा जा सकता है, अर्थात् विशेष अधिकार प्राप्त शोषक वर्ग और विशेष अधिकारों से वंचित शोषित वर्ग। विशेष अधिकार प्राप्त वर्ग में आने वालों राजा, सामंती, सरदार, पुरोहित और अमीर सौदागर ऐश की जिंदगी जीते थे लेकिन उत्पादक श्रम में हिस्सा नहीं लेते थे। दूसरी ओर, आम वर्ग के किसान, मजदूर, दस्तकार, कारीगर और गुलाम कड़ी मेहनत करके भी दयनीय जिंदगी बिताते थे। वास्तव में, आबादी की बड़ी संख्या वाले आम अवाम को अल्पसंख्यक शासक वर्ग की आवश्कताओं और आनंद के साधन जुटाने होते थे।

इसके अलावा, जोतने लायक भूमि आसानी से उपलब्ध होने के कारण भी सामाजिक गतिशीलता सुलभ हुई। भारतीय शासकों ने सरदारों और पुरोहितों को जुताई के विस्तार के लिए भूमि दान की। इससे इन सरदारों और पुराहितों की सामाजिक प्रस्थिति बढ़ी। इससे किसानों, मजदूरों, कारीगरों और दस्तकारों को भी ये अवसर मिले कि वे एक स्थान से दूसरे स्थान को जा सके। स्थानिक गतिशीलता (अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने) की इस गुंजाइश ने आम आदमी पर शासकों की ज्यादतियों पर रोक लगाने का काम किया। स्थानिक गतिशीलता से परिवारों को भी ये अवसर मिले कि वे नये क्षेत्रों में खेती का काम अपनाकर किसान वर्ग में प्रवेश करें। इस तरह, सामाजिक गतिशीलता पारंपरिक वर्गीय स्तरीकरण वाले समाज में संभव थी। लेकिन यह बहुत सीमित थी।

31.5 उपनिवेश काल में उल्लेख

उपनिवेश काल के दौरान भारत के समाज, राज्यतंत्र और उसकी अर्थव्यवस्था में दूरगामी बदलाव हुए। देश में एक अंग्रेजी राज के तहत पूंजीवादी अर्थव्यवस्था और नयी प्रौद्योगिकी लागू हुई और आधुनिक प्रशासनिक–सैनिक संगठन और एक अकेली सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति का उदय देखने को मिला। सामाजिक गतिशीलता के नये मार्ग व्यापार, वाणिज्य, उद्योग, शिक्षा और सेवाओं के क्षेत्र में खुले। इसके फलस्वरूप समाज के ढांचे में एक बुनियादी बदलाव आया। भारतीय समाज, धीरे–धीरे और रूक कर ही सही, पूंजीवादी विकास की राह पर चल पड़ा। यह बदलाव की स्थायी प्रक्रिया हो गयी।

औपनिवेशिक शासकों की नयी नीति के कारण खेतिहर वर्ग के ढांचे में एक महत्वपूर्ण बदलाव आया। अंग्रेजों ने देश के विभिन्न भागों में तीन तरह की मालगुजारी का बंदोबस्त किया– जमींदारी व्यवस्था, रैयतवाड़ी व्यवस्था और महलवाड़ी व्यवस्था। इन तीनों व्यवस्थाओं के फलस्वरूप गांवों में कमोवेश एक ही तरह का वर्गीय ढांचा बना। मुख्य खेतिहर वर्गों में जमींदार, काश्तकार और खेतिहर मजदूर आते थे। जमींदार कर वसूलने वाले और भूमि के न जोतने वाले स्वामी थे जो भूमि के किराये का एक अंश औपनिवेशिक शासकों को देते थे। काश्तकार भूमि के असली जोतदार होते होते थे, जिनके पास भूमि की काश्तकारी की अवधि के बारे में भी कोई निश्चितता नहीं थी। अंतिम बात, देश के अधिकांश भागों में खेतिहर मजदूरों की प्रस्थिति बंधुआ और वंशानुगत मजदूरों की थी।

कृषि के क्षेत्र में पूंजीवाद के धीरे–धीरे घुस जाने की प्रक्रिया ने किसानों की और भी दुर्दशा कर दी। मालगुजारी के भुगतान, जमीन और आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन के खरीदने–बेचने में धन के और अधिक इस्तेमाल होने से जजमानी की पारंपरिक व्यवस्था का टूटना शुरू हो गया।

उपनिवेश काल के दौरान स्वदेशी ग्रामीण उद्योग और शहरी दस्तकारी के नष्ट हो जाने से इन लोगों को अपनी रोजी–रोटी कमाने के लिए खेती के क्षेत्र में जाना पड़ा जिससे वहां भीड़–भाड़ बढ़ गयी। यह अधोगामी सामाजिक गतिशीलता की एक और मिसाल है।

नयी मालगुजारी की नीति का एक और अहम परिणाम पुराने जमींदारों की अधोगामी (नीचे की ओर) सामाजिक गतिशीलता और नयी जमींदारी के उदय के रूप में सामने आया। इस तरह की जमींदारी आमतौर पर कस्बों में रहने वाले सौदागरों और दूसरे पैसे वाले वर्गों को बेची जाती थी। इसके अलावा, किसानों और राज्य के बीच किराया वसूलने वाले गैर–जोतदार बिचौलियों की एक लम्बी कड़ी बन गयी क्योंकि जमींदारों का भूस्वामियों ने मालगुजारी वसूलने का पट्टा दूसरों के नाम कर दिया।

इसके अलावा, आधुनिक मशीन–आधारित उद्योग के उदय और विकास ने अखिल भारतीय चरित्र के दो नये सामाजिक वर्गों को जन्म दिया– शहरी, औद्योगिक क्षेत्रों में औद्योगिक मजदूर वर्ग या सर्वहारा पूंजीवादी या बुर्जुआ (मध्यम वर्ग)।

यहां इस बात पर ध्यान देना होगा कि भारतीय बुर्जुआ की जड़े व्यापार और वाणिज्य में थीं और औद्योगिक सर्वहारा किसानों, खेतिहर मजदूरों, कारीगरों और दस्तकारों की पृष्ठभूमि से आये। वे शहरी और देहाती दोनों पृष्ठभूमियों से थे। इसलिए, हमें इस संदर्भ में व्यवसाय और स्थान के सम्बन्ध में सामाजिक गतिशीलता देखने को मिलती है।

उपनिवेश काल के दौरान दो और सामाजिक वर्गों का उदय हुआ। व्यापारियों और दुकानदारों का लघु–मध्यम (पेटी बुर्जुआ) वर्ग आधुनिक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था से बंधा था। इसके अलावा, एक नयी (ऊंची बौद्धिक किस्म के) शिक्षा व्यवस्था और नौकरी के नये अवसर बनने के कारण नौकरशाही व्यवसायों और दूसरे अधिशासी स्तरके व्यवस्थाओं में लगे एक आधुनिक मध्यम वर्ग का उदय हुआ, ये दो व्यापक वर्गो–उच्च और निम्न स्तर में बंटे।

यह देखा गया है कि पारंपरिक वर्गों और नये वर्गों के बीच परस्पर व्यापन प्रवृत्ति काफी रही है। पारंपरिक वर्गीय श्रेणीबद्धता में बदलाव के साथ वर्गीय

श्रेणीबद्धता की प्रकृति में भी बदलाव आया। अर्थव्यवस्था, प्रशासन और ऊंचे बौद्धिक किस्म के व्यवसायों में बने नये अवसरों के कारण समस्तर धरातल पर पुरानी से नयी वर्गीय श्रेणीबद्धता की ओर सामाजिक गतिशीलता सुलभ हो गयी। पारंपरिक विशेष अधिकार प्राप्त वर्ग आधुनिक विशेष अधिकार प्राप्त वर्ग बन गया और पारंपरिक विशेष अधिकार वंचित वर्ग नये लेकिन नीची प्रस्थिति के कम पैसों वाले व्यवसायों में लग गया। एम.एन. श्रीनिवास के अनुसार ''नये अवसरों का लाभ, कम से कम उच्च स्तर पर, आमतौर पर ऊंची जातियों ने लिया, जिसके फलस्वरूप पारंपरिक और नये कुलीनों के बीच कोई फरक नहीं रहा।'' योगेन्द्र सिंह के अनुसार, अंग्रेजों को सफलता मिली तो केवल ''भारत में वर्ग संचरण की प्रकृति बदलने में, इसका सामाजिक आधार बदलने में नहीं। जो मध्यम वर्ग उभर कर सामने आया उसने भर्ती या नियुक्ति और सामाजिक पृष्ठभूमि के संदर्भ में पहले के वर्गीय ढांचे के साथ संरचनात्मक निरंरता को बनाये रखा।'' फिर भी, समाज के पारंपरिक रूप से वंचित वर्ग के कुछ व्यक्तियों और व्यक्ति समूहों में उर्ध्वगामी गतिशीलता बहुत कम स्तर पर बनी।

31.6 खेतिहर वर्ग और सामाजिक गतिशीलता

अंग्रेजी औपनिवेशिक राज से भारत को आजादी दिलाने के संग्राम में विभिन्न सामाजिक वर्गों ने योगदान दिया। किसानों ने अपने वर्ग शत्रु को पहचाना। उन्होंने अपने दो शोषकों—विदेशी शासकों और स्थानीय जमींदार और महाजनों के खिलाफ संघर्ष किया। किसानों और खेतिहर मजदूरों का संघर्ष देहातों के अर्धसामंती और पूंजीवादी शोषण और दमन का खात्मा करने के लिए आजादी के बाद भी चलता रहा।

भूमि सुधार और वर्गीय ढांचे में बदलाव

किसानों के संघर्ष से प्रेरणा लेकर, भारत में आजादी के बाद भूमि सुधार के कई उपाय किये गये। भूमि सुधार लोगों का जीवन स्तर सुधारने की दृष्टि से सामंती कृषि ढांचे को तोड़ने, कृषि उत्पादनों में बढ़ोत्तरी करने और कृषि को गतिशील बनाने के लिए आवश्यक थे।

भूमि सुधार का पहला उपाय था—जमींदारी व्यवस्था का उन्मूलन, जिसका लक्ष्य असली जोतदार न होकर केवल मालगुजारी की वसूली में लगे होने वाले जमींदारों और अन्यों के बिचौलियों हितों को खत्म करके किसानों को राज्य के साथ सीधे संबंध में लाना था। दूसरे, काश्तकारी सुधार के उपायों का उद्देश्य मालगुजारी की दर को कम करना, काश्तकारी की सुरक्षा किसानों के हित में करना और काश्तकारों के लिए मालिकाना अधिकार हासिल करने को सुगम बनाना। तीसरे, खेती योग्य अतिरिक्त भूमि को बड़े भूस्वामियों या जमींदारों से लेकर उन्हें भूमिहीन खेतीहर मजदूरों और सीमान्त (मार्जिनल) किसानों में बांटने के उद्देश्य से पारिवारिक काश्तकारी पर सीमा बांध दी गयी। लेकिन व्यक्तिगत खेती के लिए भूमि को अपने पास ही रखने के प्रावधान का इस्तेमाल कर देहाती जमींदारों और दूसरे बिचौलियों ने किसानों की जमीन हथिया ली। इसके परिणामस्वरूप काश्तकारों, विशेष तौर पर छोटे काश्तकारों, की बेदखली हो गयी। लेकिन फिर भी, शहरी भूस्वामियों की अनुपस्थित जमींदारी बहुत हद तक कम हो गयी है और किसानों के एकवर्ग ने भूमि का स्वामित्व ले लिया है।

जमीन का बंटवारा करके और उन्हें पारिवारिक सदस्यों रिश्तेदारों और मित्रों के नाम स्थानान्तरित करके या अतिरिक्त भूमि को बेच कर जमींदार,

काश्तकारी पर लगी सीमा संबंधी नियमों से बच निकले हैं। इसका नतीजा हुआ कि जमींदारों और धनी किसानों के हाथों में जमीन के संकेन्द्रित होने पर अधिक असर नहीं पड़ा है। आजादी के 25 वर्षों के बाद भारतीय गांवों में जो वर्गीय ढांचा उभरकर सामने आया, उसका व्यापक अखिल भारतीय स्थिति का चित्र ए.आर. देसाई ने पेश किया है, यह इस प्रकार है :–

1. पंद्रह एकड़ या उससे अधिक भूमि और कुछ भूमि के 50 प्रतिशत का स्वामित्व रखने वाले धनी किसानों और जमींदारों के वर्ग कुल आबादी में 7 प्रतिशत है।

2. 5 और 15 एकड़ के बीच भूमि और कुल आबादी में भूमि के 30 प्रतिशत के मालिक मध्यम किसानों का प्रतिशत कुल आबादी का 19 है।

3. घाटे की खेती करने वाले, एक से पांच एकड़ के बीच और कुल भूमि के 17 प्रतिशत के मालिक गरीब किसानों का ग्रामीण आबादी में प्रतिशत 30 है।

4. बिना भूमि वाले या एक एकड़ से कम के और कुल भूमि के दो प्रतिशत के मालिक, खेतिहर मजदूरों का कुल आबादी में प्रतिशत 44 है।

डेनियल थॉर्नर ने तीन प्रमुख खेतिहर वर्गों की शिनाख्त की है। वह उन्हें क्रमशः मालिक, किसान और मजदूर कहते हैं। मालिक से उसका आशय उस परिवार से है जिनकी खेतिहर आय का स्रोत प्रमुख रूप से (आवश्यक नहीं कि यह एक मात्र स्रोत हो) जमीन में श्रेष्ठ स्वामित्व अधिकारो में होता है, जो किराये के रूप में होते हैं। इस वर्ग के लोग मजदूरों को किराये पर लेकर उनसे अपनी निगरानी में खेती करवाते हैं और खुद अपने हाथों से खेतों में काम नहीं करते। किसान या काम करने वाले किसान छोटे भूस्वामी या काश्तकार कहलाते है जिनकी निश्चित सुरक्षा विभिन्न अंशों मे होती है और मालिक की अपेक्षा उनके जमीन के अधिकार निम्न श्रेणी के होते हैं। वे अधिकतर अपने ही श्रम पर निर्भर करते हैं और अपनी जमीनों से ही गुजारा चलाते हैं। मजदूर वे होते हैं जो दिहाड़ी या मेहनताने के रूप में अपनी रोजी–रोटी कमाते हैं, यह मेहनताना रुपयों पैसों की याऔर किसी सूरत में भी हो सकती है। इस श्रेणी में लावनी करने (फसल काटने वाले) और स्वेच्छा से काश्तकार बने निचली श्रेणी के लोग आते हैं।

योगेन्द्र सिंह के अनुसार स्वतंत्रता संग्राम के दौरान या आजादी के बाद की भूमि सुधार की विचारधारा और भूमि सुधारों के लिए किये गये वास्तविक उपायों में काफी अंतर है। धनी मध्यम स्तर के किसानों काएक नया वर्ग बन गया है। धनी और निर्धन किसानों के बीच आर्थिक असमानताओं में बढ़ोत्तरी हुई है। खेतिहर वर्गीय संरचना में इन अंतर्विरोधों के परिणामस्वरूप भारत के गांवों में तनाव बढ़े हैं। अंतिम बात, ग्रामीण समुदाय में बदलाव की प्रक्रिया में बुर्जुआकरण (embourgeoisement) और सर्वहाराकरण (proletarianisation) की स्थिति साथ–साथ शामिल है।

सर्वहाराकरण और बुर्जुआकरण की अवधारणा का उपयोग खेतिहर वर्गीय स्तरीकरण में सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया को बताने के लिए किया गया है। सर्वहाराकरण से आशय उच्च वर्गों से निम्न वर्गों की ओर अधोगामी सामाजिक गतिशीलता से है। इसकी मिसाल छोटे और मार्जिनल किसानों में बार–बार देखी गयी है जो गरीबी के कारण अपनी जमीन बेच देते हैं और भूमिहीन खेतिहरसर्वहारा की कोटि में आ जाते हैं। इसके अलावा, पूर्व जमींदारों के कुछ परिवारों के हाथ से

भी उनकी जमीन जाती रही है और वे शारीरिक श्रम करने लग गये। इस तथ्य को के.एल. शर्माने राजस्थान के छह गावों के अपने अध्ययन में रेखांकित किया है।

बुर्जुआकरण से आशय सामाजिक गतिशीलता की उर्ध्वागामी प्रक्रिया से है जिसमें निम्न वर्ग के लोग अपनी वर्ग प्रस्थिति को बेहतर करके उच्च वर्ग में आ जाते हैं। इस प्रक्रिया को सर्वहाराकरण की प्रक्रिया का विलोम या उल्टा माना जा सकता है। इस प्रक्रिया में, निम्नवर्ग के व्यक्ति या परिवार आर्थिक प्रस्थिति, सामाजिक प्रतिष्ठा और शक्ति के स्तर में ऊंचे उठ जाते हैं, और उच्च वर्ग में प्रवेश कर जाते हैं।

हरित क्रान्ति का प्रभाव

खेतिहर सामाजिक आर्थिक विकास की एक बहुत महत्वपूर्ण प्रक्रिया इस शताब्दी की छठवाँ दशक के मध्य में शुरू हुई, जिसे ''हरित क्रान्ति'' के नाम से जाना जाता है। यह आधुनिक काल में लागू की गयी प्रौद्योगिक बदलाव की प्रक्रिया की प्रतीक है। इस प्रक्रिया में, खेती में उच्च उत्पादकता वाले (एच.वाई.वी) बीजों, रासायनिक खादों, काफी पानी और ट्रैक्टरों, थ्रैसरों, हार्वेस्टरों, ट्यूबेलों जैसे खेती के आधुनिक यांत्रिक उपकरणों के इस्तेमाल पर जोर दिया जाता है। भारत में कृषि के विकास की इस नीति के साथ–साथ सरकार की ओर से ग्रामीण विकास के और कार्यक्रमों को शामिल किया गया है और किसानों को वित्तीय सहायता देने के उद्देश्य से सहकारी समितियों और ग्रामीण बैंको की स्थापना की गयी है। इस सबके परिणामस्वरूप फसल का घनत्व और उत्पादकता में काफी बढ़ोत्तरी हुई है।

हरित क्रान्ति की नीति का लक्ष्य प्रौद्योगिक बदलावों के जरिये कृषि उत्पादन को बढ़ावा था, जबकि भूमि सुधार के उपायों का उद्देश्य उन्हीं लक्ष्यों को कृषि क्षेत्र में समानतावादी आधारपर संरचनात्मक बदलाव लाकर प्राप्त करना था। इसलिए, इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि हरित क्रान्ति के लाभ मुख्य तौर पर जमींदारों और धनी किसानों व बड़े भूस्वामियों के हाथ लगे।

इस शताब्दी के सातवें दशक में, डेनियल थॉर्नर ने शहरी आधार के ''सज्जन किसानों'' का देहातों में कुछ हरित क्रान्ति के क्षेत्रों की ओर भागने की स्थिति को रेखांकित किया है। इस तरह के किसानों में व्यापारी, व्यावसायिक लोग, सेवानिवृत्त सैनिक अधिकारी और सरकारी अधिकारी शामिल थे जिन्होंने जमीन खरीद कर कृषि उत्पादनों में पैसा लगाया। वास्तव में, इन ''प्रगतिशील किसानों'' की यह पूरी कार्यवाही एक सामंतवादी रियासत से कम और व्यापारिक उद्यम से ज्यादा मेल खाती थी।

खेतिहर संबंधों के अध्ययनों से यह बात सामने आयी है कि हरित क्रान्ति वाले क्षेत्रों में खेती के बहुत लाभदायक होने के कारण बड़े जमींदारों ने काश्तकारों को बेदखल करके और बटाईदारी खत्म करके जमीन को अपने लिये रख लिया। इसके फलस्वरूप कास्तकारों की भूमिहीन सर्वहारा वर्ग की ओर अधोगामी गतिशीलता की स्थिति बनी। अपनी कम और घाटे की जमीन और गरीबी के कारण ये किसान कृषि की महंगी आधुनिक लागत को वहन नहीं कर सकते। इसलिये, वे जमीन को पट्टे पर देकर खुद दिहाड़ी पर मजदूरी करना अधिक पसंद करते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि बड़े जमींदारों के पास वास्तविक नियंत्रण या कब्जे वाली जमीन की मात्रा बढ़ी है। खुद खेती करने वाले मध्यम किसानों को भी हरित क्रान्ति का अधिक लाभ नहीं मिला है क्योंकि उन्हें फसल के तुरन्त बाद अपना अनाज बेचना पड़ता है जब कीमतें कमहोती है। लेकिन बड़े

जमींदार अनाज की जमाखोरी करते हैं और उसे बाद में तब बेचते हैं जब कीमतें बढ़ जाती है, और इस तरह अधिक मुनाफा कमाते हैं।

तमिलनाडु के अध्ययन में कैंथलीन गफ ने देखा कि मुख्य तौर पर खेतिहर मजदूर वाले अर्ध सर्वहारा पूंजीवादी विकास के साथ और भी सर्वहारा हो गये थे। उनका अपने उपकरणों, पट्टे की भूमि, वित्तीय सहायता वाले भू–भागों, सामान्य जमीनों, कारखानों, या रोजी रोटी की दूसरे माध्यमों पर कम कब्जा रह गया था। उनमें से कुछ कम काश्तकार, बंधुआ मजदूर या दस्तकार थे जो गांव के प्रभुत्वशाली वर्ग की सेवा करते थे। कई और खेतिहर मजदूर थे जो कम से कम आंशिक तौर पर नकद दिहाड़ी पर निर्भर करते थे।

उत्सा पटनायक ने विभिन्न खेतिहर वर्गों की शिनाख्त की हैं ये हैं जमींदार और मजदूर और धनी मध्यम और निर्धन किसान। जमींदारसे भिन्न, एक धनी किसान खेती में कुछ शारीरिक श्रम भी कर लेता है। मध्यम किसान मुख्य तौर पर स्वरोजगार वाले होते हैं, जो परिवार के श्रम का सदुपयोग करते हैं। निर्धन किसान अपने आपको किराये पर उठाने पर बहुत अधिक निर्भर करते हैं क्योंकि उनके पास रोजी रोटी कमाने लायक अत्यधिक भूमि नहीं होती।

सामाजिक वर्ग : विविध परिप्रेक्ष्य

समाज, वर्ग और स्तरीकरण के अध्ययन के ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक उपागम के कार्ल मार्क्स प्रमुख प्रवर्तक हैं। मार्क्सवादी सिद्धान्त प्रौद्योगिकी या आर्थिक निर्धारण की एक सरल व्याख्या मात्र नहीं है। मार्क्स ने समाज के वृहद् सिद्धान्त का प्रतिपादन कियाहै। मार्क्स के अनुसार उत्पादन के सम्बन्धों की व्यवस्था द्वारा स्तरीकरण कानिर्धारण होताहै और एक व्यक्ति की 'प्रस्थिति' का निर्धारण, उत्पादन के साधनों के स्वामित्व और अस्वामित्व के संदर्भ में, उत्पादन व्यवस्था में व्यक्ति के पद–स्थान द्वारा होता है। मार्क्स ने, 'वर्ग' और 'सामाजिक स्तरीकरण' में कोई विभेद नहीं किया है। मार्क्स के लिए, 'उत्पादन', सामाजिक 'व्यक्तियों द्वारा होता है, और इसलिए, इसको 'सामाजिक संदर्भ' में समझना चाहिये। इस प्रकार, मार्क्स के वर्ग के सिद्धान्त को, 'प्रभावी उच्चता–निम्नता सम्बन्धों' पर आधारित, 'प्रभुत्व' और 'अधीनस्थता' के संदर्भ में, सामाजिक स्तरीकरण की एक व्यवस्था के रूप में समझा जा सकता है।

मार्क्स ने दुनिया को समझने और उसमें क्रान्ति लाने के लिए प्रकृति के वस्तुपरक नियमों, समाज और मानव विचार को समझकर, विश्लेषण करनेका प्रयास किया है। मार्क्स के दर्शन और विचारधारा के मुख्य बिन्दु इस प्रकार हैं :–

1. पूँजीवाद का अन्त
2. साम्यवादी समाज की विजय
3. समाज के विज्ञान की कल्पना/स्वप्न
4. सर्वहारा–एक क्रॉन्तिकारी वर्ग की अन्याय और शोषण से मुक्ति
5. सर्वहारा का अधिनायकवाद/एकाधिकार
6. श्रमिक वर्ग की विचारधारा
7. क्रॉन्तिकारी वर्ग संघर्ष

सामन्तवाद समाप्त हो चुका था, औरा पूँजीवाद पनप रहा था। नयी व्यवस्था के अन्तर्गत कृषक और कारीगर बर्बाद हो रहे थे। इसलिए सर्वहारा वर्ग के उभरने के कारण वर्ग संघर्ष और पूँजीपति समर्थित प्रजातांत्रिक व राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन अस्तित्व में थे। मार्क्स ने हीगल, विशेषतः वामपंथी हीगलवादियों से, सीखा और प्रेरणा ली।

मार्क्स ने फ्रांस में और विशेषतः पेरिस में अत्यंत निर्धन लोगों के साथ समय बिताया और इस प्रकार मार्क्स इंग्लिश और फ्रेंच लोगों के अध्ययन में रूचि लेने लगे। इस तरह के अनुभव और समझ के परिणामस्वरूप, मार्क्स का आदर्शवाद से भौतिकवाद और क्रॉन्तिकारी प्रवाह से साम्यवाद की ओर संक्रमण हुआ। अपने जर्मन, इंग्लिश और फ्रेंच अनुभवों से प्रेरित होकर, राजनीतिक अर्थव्यवस्था के संदर्भ में मार्क्स ने 'नागरिक समाज' (सिविल सोसाइटी) के बारे मेंसोचा। इसके बाद मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्वात्मकता (मानव मस्तिष्क की द्वन्द्वात्मकता) को अस्वीकार किया और उसका पुनः आलोचनात्मक अवलोकन किया। एक गैर–यांत्रिक स्वरूप में, मार्क्स ने फ्यूरबैक के भौतिकवाद के मिश्रण से इतिहास, सामाजिक सम्बन्ध और राजनीति की समझ का विकास किया। मार्क्स ने अपने सिद्धान्त को 'वैज्ञानिक समाजवाद' का नाम देना पसन्द किया।

मार्क्स ने अपने विचारों की अभिव्यक्ति कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो, कैपिटल (3 खण्ड), जर्मन आइडियोलॉजी, आदि कृतियों में की है। कैपिटल के तीसरे ग्रंथ में मार्क्स लिखते हैं–"मात्र श्रमशक्ति के स्वामी, पूँजी के मालिक और भूस्वामी, जिनके वेतन, लाभ और लगान, तद्नुसार आय के स्रोत हैं, दूसरे शब्दों में वेतनधारी श्रमिक, पूँजीपति और भूस्वामी उत्पादन की पूँजीवादी पद्धति पर आधारित आधुनिक समाज के तीन बड़े वर्ग हैं।" इस तरह मार्क्स ने सर्वहारा और पूँजीपति दो प्रमुख वर्गों का वर्णन किया है, प्रथम सम्पत्तिविहीन है, और दूसरा सम्पत्तिवान हैं। अपने दो वर्गों के सिद्धान्त के समर्थन में मार्क्स ने यह भी कहा है कि हर जगह मध्यम और बीच के स्तरण इस विभाजन के कारण लुप्त हो जायेंगे। पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के विकास की प्रवृत्ति के अधिक से अधिक बढ़ने के कारण श्रम, वेतन श्रम और उत्पादन के साधन पूँजी में रूपान्तरित होंगे। प्रदत्त सम्पत्ति (भूमि, मकान आदि) में भी पूँजीवादी उत्पादन पद्धति में परिवर्तित होने की प्रवृत्ति होती है। अब प्रश्न ये हैं–

1. वर्ग किन तत्वों से निर्मित होता है?
2. वेतन श्रमिक, पूँजीपति और भूस्वामी कैसे तीन बड़े सामाजिक वर्ग बनते हैं?

वास्तव में, मार्क्स ने केवल सर्वहारा और पूँजीपति – दो ही वर्गों का उल्लेख किया है। दूसरा और तीसरा वर्ग, जैसे पूर्व में वर्णन किया है, अन्ततः एक दूसरे में समाहित होकर एक ही वर्ग बन जाते हैं, लेकिन मार्क्स के वर्ग के सिद्धान्त की एक तर्कसंगत अवधारणा नहीं है। मार्क्स ने वर्ग और वर्ग संघर्ष की अपनी सामान्य रचना के आनुभविक संदर्भों पर अधिक बल दिया है। मार्क्स के वर्ग और स्तरीकरण के सिद्धान्त के मुख्य लक्षण इस प्रकार है–

1. आर्थिक हित तमाम अन्य प्रकार के संबंधों–सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक आदि का आधार है।
2. दो वर्ग हैं–(अ) उत्पादन के साधनों क मालिक और (ब) श्रमिक (सर्वहारा वर्ग)

3. इन दोनों वर्गों के हितों में टकराव होता है क्योंकि पूँजीपति सर्वहारा का शोषण करता है और इसलिये वर्ग संघर्ष पाया जाता है।

4. पूँजीपति अपने उचित हिस्से से ज्यादा प्राप्त करता है, जिसको मार्क्स ने 'अतिरेक मूल्य का सिद्धान्त' कहा है। ऐसी परिस्थिति से वर्ग संघर्ष तेज होता है, जिससे अन्त में क्रान्ति आती है और समाज की स्तरीकरण व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन होता है।

इस तरह से मार्क्सवादी सिद्धान्त में सामाजिक व्यवस्था के मूलभूत लक्षण हैं। उत्पादन व्यवस्था की प्रक्रियाओं से वर्ग उभरते हैं। पूँजीपति वर्ग उत्पादन के साधनों का स्वामी होता है और सर्वहारा वर्ग आवश्यक मानव श्रम व अन्य सेवायें प्रदान करता है। इस प्रकार, आर्थिक सम्बन्ध स्तरीकरण व्यवस्था का आधार है और इस व्यवस्था से दो वर्ग निर्मित होते हैं– पूँजीपति और सर्वहारा या सम्पत्तिवान और सम्पत्तिविहीन।

मार्क्स की दृष्टि में, वर्ग 'सामाजिक' है, एक सामाजिक वास्तविकता है, जीवन का एक विद्यमान तथ्य है। वर्ग एक सांख्यिकीय या एक संग्रहीत या एक निर्माणित प्रघटना नहीं है। वर्ग में एक वास्तविक समूह के रूप में, एक विकसित भाव औरअपने अस्तित्व, पद–स्थान, के बारे में चेतना होती है। वर्ग के दर्पणों से एक व्यक्ति समाज में सम्बन्धों की सम्पूर्णता को देख सकता है।

हितों के टकराव के कारण, दोनों वर्गों में एक–दूसरे के साथ संघर्ष होता है। दूसरे शब्दों में सम्पूर्ण समाज दो बड़े विरोधी धड़ों के रूप में दो वर्गोंमें विभाजित रहताहै। दोनों वर्ग संघर्ष करते हैं और अपने–अपने हितों की रक्षा के लिए संगठित भी होते हैं। एक निश्चित अंश तक, दोनों वर्गों के बीच सहयोग भी होता है, जिसको मार्क्स ने 'विरोधियों की एकता' का नाम दिया है। पूँजीपति और सर्वहारा के बीच ऐसी एकता की आवश्यकता उत्पादन व्यवस्था को सुचारू करने के लिए चाहिये, क्योंकि दोनों के जीवन का अस्तित्व इस पर निर्भर करता है। फिर भी मार्क्स ने पूँजीपति वर्ग के विरूद्ध सर्वहारा वर्ग को एक राजनीतिक संगठन के रूप में एकजुट होकर लड़ने का संदेश दिया है। मार्क्स के अनुसार, शासक वर्गों के विचार, इतिहास और समाज के हर युग (काल) में, 'शासक विचार' रहे हैं। मार्क्स का विश्वास है कि राजनीतिक शक्ति की धारणा, वर्ग शक्ति के अधीन है और राजनीतिक संघर्ष एक विशेष प्रकार का वर्ग संघर्ष है। राज्य पूँजीपति वर्ग के लिए कार्य करता है। इस प्रकार, मनुष्यों के भौतिक (आर्थिक) अस्तित्व द्वारा उनके जीवन की अवस्था और चेतना निर्धारित होती है। इसलिये वर्ग एक सामाजिक वास्तविकता है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण सामाजिक संरचना को देखा जा सकता है।

मार्क्सवादी अध्ययन पद्धति :

मार्क्स ने इतिहास का तीन कालों (युगों) प्राचीन, सामन्तवाद और पूँजीवाद में वर्णन किया है। प्रत्येक काल में उत्पादन की एक प्रमुख पद्धति रही है और उस पर आधारित वर्ग संरचना से एक शासक वर्ग और एक शासित (दबा हुआ) वर्ग उभरते हैं। जैसाकि हमने पहले वर्णन किया है कि इन वर्गों के बीच संघर्ष द्वारा मनुष्यों के बीच सामाजिक सम्बन्ध निर्धारित होते हैं। सामाजिक सम्बन्ध अन्य सब संबंधों का आधार बनते हैं। ये सम्बन्ध उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण को निर्धारित करते हैं और फिर, सम्पूर्ण नैतिक और बौद्धिक जीवन को नियंत्रित करते हैं। कानून और शासन, कला और साहित्य, विज्ञान और दर्शन, सब कमोबेश प्रत्यक्ष रूप से शासक वर्ग के हितों की पुष्टि करते हैं। इसलिये ये पहलू समाज की अधिसंचनायें हैं।

हर वर्ग अपने क्रॉन्तिकारी ऊँचाई के काल में दो तरह से 'प्रगतिशील' होता है– (i) उसके आर्थिक हित तकनीकी प्रगति के जैसे होते हैं, और इसलिए अधिक मानव कल्याण के अनुरूप पाये जाते हैं और (ii) उन हितों के लिए किये गये प्रयास से वह वर्ग स्वतंत्रताजनक विचारों और संस्थाओं से जुड़ जाता है और उनके विरूद्ध हो जाता है जो तकनीकी प्रगति और मानव कल्याण को पीछे धकेलता है। ऊँचाई पर उठने वाला वर्ग शासक वर्ग भी बन सकता हैं परन्तु तब उसकी भूमिका भिन्न हो सकती है। इस तरह के वर्ग के विरूद्ध क्रॉंति का वही मार्ग अपनाया जायेगा। इस प्रकार, यह एक निरन्तर प्रक्रिया है, जिसके द्वारा समाज का क्रॉंतिकारी पुनर्गठन होता है। मार्क्सवादी सिद्धान्त में इसतरह एक सामाजिक वर्ग व्यक्तियों का एक संग्रहण है, जो उत्पादन के संगठन में एक ही तरह का कार्य करते हैं। कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो में चित्रित किया गया है कि स्वतंत्र व्यक्ति और दास, उच्च लोग और आम व्यक्ति, मालिक और नौकर, उद्योग मालिक और साधारण कर्मी या संक्षेपमें शोषक और शोषित के दो वर्ग हैं।

टोम बोटोमोर और अन्य विद्वानों का मत है कि मार्क्सवादी सिद्धान्त में वर्ग की अवधारणा का एक केन्द्रीय (प्रमुख) महत्व है, यद्यपि मार्क्स ने इसको सुव्यवस्थित रूप में प्रतिपादित नहीं किया। मार्क्सवादी सिद्धान्त के लिये, प्रारम्भिक पूँजीवाद की वर्ग संरचना और वर्तमान समाज के इस स्वरूप में वर्ग संघर्ष मुख्य संदर्भ बिन्दु है। मार्क्सवादी सिद्धान्त में वर्ग संघर्ष और वर्ग चेतना दो अन्य महत्वपूर्ण विचार हैं। कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो में कहा गया है कि ''आज तक के समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।'' पूँजीवादी समाजों में वर्ग अधिक उभरा हुआ है। जर्मन आइडियोलॉजी में मार्क्स ने अवलोकित किया है कि ''वर्ग स्वयं पूँजीपति की उपज है। यद्यपि मार्क्स ने पूँजीवाद का व्यापक अध्ययन किया है, फिर भी सब प्रकार के समाजों में एक प्रमुख वर्ग विभाजन के अस्तित्व की उपस्थिति की बात मार्क्स बताना चाहते थे। मार्क्स लिखते हैं– ''हमेशा उत्पादन की अवस्था के स्वामियों और प्रत्यक्ष उत्पादकों के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध द्वारा सम्पूर्ण सामाजिक भवन (इमारत) का अत्यन्त आन्तरिक रहस्य और छुपी हुई नींव (आधारशिला) दिखाई देती है।''

वर्ग की जड़ (नींव) और वर्ग चेतना के आधार को जाने के लिए मार्क्स के अनुसार 'अपने आपमें वर्ग' और 'अपने लिये वर्ग' के बीच अन्तर को भी समझना महत्वपूर्ण है। अपनी विख्यात कृति–दी पॉवरटी ऑफ फिलोसफी में मार्क्स कहते हैं कि ''सर्वप्रथम आर्थिक अवस्थाओं ने लोगों को श्रमिकों में परिवर्तित किया। पूँजी के प्रभुत्व के कारण इस वर्ग के लिए सामान्य परिस्थिति और सामान्य हित उत्पन्न हुए। इस प्रकार लोगों का यह समूह पूँजी के संदर्भ में वर्ग बना हुआ है, लेकिन यह अपने स्वयं के लिए अब भी वर्ग नहीं है। यह वर्ग समूह संगठित होता है और अपने लिए एक वर्ग में निर्मित करत है। जिन हितों की वह रक्षा करता है, वे वर्ग हित बन जाते हैं।'' इस तरह, मार्क्स ने 'अपने आप में वर्ग' और 'अपने लिये वर्ग' के बीच अन्तर किया है।

वर्ग और स्तरीकरण का मार्क्सवादी सिद्धान्त :

वर्ग और स्तरीकरण के मार्क्सवादी सिद्धान्त पर अब हम एक आलोचनात्मक दृष्टि डालेंगे। मार्क्स द्वारा कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो में उल्लेखित अनेक वर्ग संघर्ष वास्तव में प्रस्थिति समूहों के बीच संघर्ष है। मार्क्स और एन्जिल्स दोनों इस बात से परिचित थे कि प्रत्येक जगह विभिन्न श्रेणियों के रूप में एक जटिल समाज व्यवस्था या सामाजिक श्रेणियों का बहुपक्षीय श्रेणीकरण पाया जाता था। मार्क्स के बाद के मार्क्सवादियों ने आधारभूत वर्गों के सम्बन्ध में सामाजिक

श्रेणीकरण या स्तरीकरण की 'जटिलताओं' को समझा। मार्क्स और एन्जिल्स दोनों ने यह अनुभव किया कि इंग्लैण्ड में मध्यम और संक्रमणकारी स्तरों के कारण वर्ग की सीमायें धूमिल हो जाती है। अतिरेक मूल्य क सिद्धान्तों में मार्क्स ने स्पष्ट रूप में वर्णन किया है कि मध्यम वर्ग का उभरना पूँजीवाद के विकास की एक प्रघटना जैसा है। मध्यम वर्गों के सदस्यों की निरन्तर वृद्धि के लिए पूँजीवादी वृद्धि को कारण माना था। आधुनिक आर्थिक विकास के संदर्भ में मध्यम वर्गों ने अपने लिये एक महत्वपूर्ण राजनीतिक स्थान बना लिया है।

निकोस पोलनजा और जॉर्ज लुकाज जैसे उत्तर– मार्क्सवादियों ने कुछ रूढ़िवादी मार्क्सवादी विचारों को ठुकराया है। पोलनजा ने 'अपने आप में वर्ग' और 'अपने आपके लिए वर्ग' के बीच भेद को अस्वीकार किया है, क्योंकि पूर्ण विकसित वर्ग चेतना और राजनीतिक संगठन के साथ वर्ग अस्तित्व में आये हैं। इसके विपरीत लुकाज के अनुसार सर्वहारा वर्ग में वर्ग चेतना के विकास में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका एक क्रान्तिकारी दल द्वारा बाहर से निभाई जाती है। आज के विभाजित संसार में यह कहना कठिन होगा कि चेतना की प्रकृति 'समाजवादी' या 'क्रान्तिकारी' या 'पूँजीवादी' होगी।

भूमण्डीकरण के कारण भी एक प्रकार की समान वर्ग चेतना उत्पन्न हुई है। विशिष्ट प्रकार के वर्ग हित और वर्ग चेतना में गिरावट के कारण वर्ग और वर्ग संघर्ष का मार्क्सवादी सिद्धान्त कम आकर्षक और लुभावना हो गया है। क्रान्तिकारी राजनीतिक आन्दोलन, स्त्रियों का आन्दोलन, और विभिन्न सजातीय व राष्ट्रीय आन्दोलन वर्ग–आधारित नहीं रहे हैं। सामाजिक जीवन में समूहों में गठजोड़ों और समीपताओं के कारण मार्क्सवादी सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में वर्ग चेतना धूमिल हो चुकी है। मार्क्सवादी सिद्धान्त में विभिन्न प्रकारों के समाज की वर्ग संरचना में कृषक समाज को स्थान और उसकी राजनीतिक भूमिका को उचित महत्व नहीं दिया गया था। उदाहरण के लिए फ्रांस में कृषकों को पूर्ण रूप में एक वर्ग नहीं समझा गया था। तीसरी दुनिया के देशों में कृषकों ने क्रान्तिकारी आन्दोलनों में महत्वपूर्ण भाग लिया है।

पूर्ववर्ती समाजवादी देशों में विशिष्ट सामाजिक शक्तियों के कारण वर्ग संघर्ष नहीं के बराबर थे। उदाहरण के लिए हंगरी, चेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड में एक नयी वर्ग संरचना अभरकर आई। इन देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों में न केवल वर्गों ने ही भागीदारी की, बल्कि राष्ट्रीय, सजातीय या धार्मिक समूहों और स्त्रीवाद, पर्यावरणवाद व अणुशक्ति – विरोधी आन्दोलन के समर्थकों ने भी भागीदारी थी। आज मुकाबला (भिड़न्त) केवल पूँजीपति और सर्वहारा तक सीमित नहीं है, परन्तु विभिन्न सामाजिक समूहों में भी गठजोड़ उभरे हैं। एक ओर ऐसे समूह हैं जो आर्थिक व सामाजिक जीवन पर हावी है और उसको निर्देशित करते हैं। दूसरी ओर अधीनस्थ समूह है।

मार्क्स और भारतीय समाज का अध्ययन :

वर्ष 1940 के दशक से अब तक भारतीय विद्वत्जन मार्क्सवाद की विचारधारा और उसकी व्यावहारिकता पर सक्रिय चिंतन कर रहे हैं। वास्तव में मार्क्स भारत की जाति व्यवस्था और ग्रामीण समुदाय के परम्परात्मक भाव के प्रति बहुत सजग थे। 1853 में, मार्क्स ने भारत के बारे में न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून में दो लेख लिखे। मार्क्स ने भारत के एशियायी निरंकुशवाद या 'एशियायी उत्पादउन की प्रविधि' को एक उदाहरण बताया। इस तरह की व्यवस्था के अन्तर्गत मार्क्स ने भूमि

को निजी सम्पत्ति नहीं समझा। लेकिन मार्क्स नेयह भी कहाकि समयोपरान्त भूमि को निजी सम्पत्ति भी माना गया।

भारत को पर–पूँजीवादी आर्थिक रचना की दृष्टि से भी देखा गया है, लेकिन भारत न तो वर्गविहीन और न ही स्थिर (जड़) था। यहाँ पर सोच यह है कि एशियाई प्रविधि में वर्ग विरोधाभासों और वर्ग संरचनाओं की भूमिका को नकारा नहीं जाता है। कार्ल ए. विट्टफोगल, एरिक हाब्सबॉम और डी.डी. कोसाम्बी का मत है कि भारत कभी भी एक स्थिररचना नहीं था। कोसाम्बी के अनुसार भारत में जाति व वर्ग–आधारित स्तरीकरण और शोषण एक साथ अस्तित्व में थे। इसी प्रकार दासता व बन्धन के विभिन्न स्वरूप और सामन्ती सम्बन्ध भी समान क्षेत्रों और समान समय पर विभिन्न मिश्रणों में पाये गये हैं। यहाँ पर दो प्रश्न किए जा सकते हैं:–

1. भारत की वर्ग संरचना का विश्लेषण कैसे किया जाये?
2. विभिन्न क्षेत्रों में जाति–वर्ग की कड़ी (जुड़ाव), उसके विभिन्न रूप, और अन्तरक्रियाएं क्या हैं?

अब जाति–वर्ग की कड़ी भारतीय सामाजिक रचना की एक मान्य वास्तविकता है। इन दोनों (जाति और वर्ग) को बिना एक–दूसरे से जोड़े, दोनों को न देखा जा सकता है और न ही अध्ययन किया जा सकता है। कोसाम्बी के अनुसार बंधुता में भी प्रथम पुत्र का उत्तरदायित्व, विरासत, सम्पत्ति का बंटवारा, तनाव, गुट और विभाजन के लिए प्रमुख आधार है। वी.एम. डांडेकर ने मार्क्सवादी सिद्धान्त और पद्धति की प्रशंसा करते हुए निम्न अवलोकन प्रस्तुत किये हैं–

1. मार्क्स ने यह नहीं सोचा था कि श्रमिक संगठनों और श्रमिकों की सामूहिक सौदेबाजी (समझौता) के कारण पूँजीवाद परिवर्तित होता।
2. मार्क्स ने 'विरोधियों की एकता' के साथ दो विरोधी वर्गों की चर्चा की है, परन्तु ये वर्ग विभक्त नहीं रहे हैं। इन दोनों वर्गों के बीचअन्य कई वर्ग विद्यमान है। आज नागरिक समाज और समूह राज्य पर उसकी प्रकृति और कार्यप्रणाली को परिवर्तित करने के लिए दबाव डाल रहे हैं।
3. एक भूमण्डलीय प्रघटना के रूप में मध्यम वर्गों के बढ़ते आकार के कारण वर्ग– विरोधाभास एक महत्वपूर्ण वास्तविकता नहीं है।
4. औद्योगिक समाजों में सर्वहारा वर्ग का पूँजीपतिकरण हुआ है।

विशेषतः स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय समाज में आधारभूत संरचनात्मक परिवर्तन और लम्बवत् गतिशीलता स्पष्ट दिखाई देती है।

डांडेकर ने निम्न पाँच वर्गों का उल्लेख किया है–

1. पर–पूँजीवादी वर्ग (कृषक, कृषि श्रमिक, घरेलूकर्मी)
2. पूँजीवादी समाज में स्वतंत्रकर्मी
3. श्रम–मालिक
4. सफेदपोशकर्मी
5. कारखानों/उद्योगों में कार्य करने वाले श्रमिक

इस बहुकारी वर्ग संरचना के अलावा, लाखों लोग लघु–स्तर और अत्यन्त छोटे उद्योगों व पारिवारिक स्वामित्व वाले प्रतिष्ठानों में कार्य करते हैं, और भारतीय अर्थव्यवस्था के इन क्षेत्रों में वर्ग संघर्ष व हड़तालें नहीं पायी जाती हैं।

भारत में भूमण्डलीकरण और निजीकरण के बावजूद, आज राज्य सबसे बड़ा रोजगारदाता है। संसार की अर्थव्यवस्था में, तात्कालिक मंदी (विशेषतः अमेरिका में) केकारण, व्यवसायों में प्रशिक्षित व दक्ष लोग सुरक्षा और सुरक्षित वेतन के कारण सरकारी नौकरियों की ओर झुक रहे हैं। इसके बावजूद भारत में कुछ कमाने वालों की पाँचवां हिस्सा ही संगठित क्षेत्र में कार्यरत है। इसतरह की परिस्थिति में पूँजीपति और सर्वहारा के संदर्भ में समाज का विभाजन और दोनों के बीच निहित वर्ग संघर्ष अनुचित प्रघटना प्रतीत होती है। भारत में हमें जो दिखाई देता है, वह मार्क्सवादी दृष्टि से बिल्कुल भिन्न है। भारतीय समाज में एकसाथवर्ग–दरार, शोषण, संरक्षण या गलत चेतना विद्यमान है। वर्ग संघर्ष से कहीं अधिक हमें अभिजात संघर्ष, दबाव–समूह, गुट और जाति प्रभाव–समूह दिखाई देते हैं। आज उच्च और निम्न वर्गों से कहीं अधिक, मध्यम वर्ग उभरे हुए हैं। उदाहरण के लिए, 'मिश्रित वर्ग' भी, सज्जन कृषकों के रूप में दिखाई देते हैं, जिनकी मिश्रत प्रस्थिति हैं और उनकी संसाधनों और अवसरों तक बहुकारी लगाव व पहुंच पाई जाती है।

वेबर ने वर्ग, प्रस्थिति और शक्ति के बीच एक स्पष्ट अन्तर किया है। वेबर के सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त की कुँजी शक्ति हैं वर्ग एक आर्थिक भाग है और 'बाजार परिस्थिति' की उत्पत्ति है। प्रस्थिति का निर्धारण 'प्रस्थिति सम्मान' से होता है। 'प्रस्थिति समूह' सम्मानपर आधारित सामाजिक संगठन को निर्मित करते हैं। सामाजिक स्तरीकरण की समझ के लिए जिस तरीके से 'प्रस्थिति सम्मान' को वितरित किया जाता है, वह महत्वपूर्ण है। वेबर ने यह स्पष्ट किया है कि वर्ग और प्रस्थिति समूह आवश्यक रूप से स्वतंत्र प्रघटनाएं नहीं हैं। 'वर्ग, प्रस्थिति और दल' का इतिहास समाज की तीन व्यवस्थाओं, अर्थात् आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक समाज की तीन व्यवस्थाओं, अर्थात् आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक के अनुरूप है, परन्तु तीनों व्यवस्थायें एक समान या स्वतंत्र नहीं है। एक व्यवस्था दूसरी से प्रभावित हो सकती है। इस प्रकार, शक्ति प्राप्त करने की लालसा हमेशा आर्थिक सम्पन्नता के लिए नहीं है। यह लालसा मात्र शक्ति प्राप्ति के लिए या सामाजिक सम्मान के लिए हो सकती है। यह भी है कि सब तरह की शक्ति से सामाजिक सम्मान प्राप्त नहीं होता और शक्ति सामाजिक सम्मान का एकमात्र स्रोत नहीं है। इस प्रकार प्रस्थिति का निर्धारण उस सामाजिक सम्मान से होता है जो एक व्यक्ति को आनन्दित करता है और सामाजिक सम्मान विभिन्न 'जीवन शैलियों' द्वारा प्रकट किया जाता है।

एक व्यक्ति विशेष के वर्ग–स्थान (पद) के निर्धारण में उसको बाजार में प्राप्त अवसर का प्रकार एक निर्णयकारी कारक है। वास्तव में, अन्ततः वर्ग परिस्थिति ही बाजार परिस्थिति है, लेकिन सम्पत्ति (धरोहर) प्रारम्भ में एकप्रभावी काकरक हो सकती है। बोहरा–कर्जदार सम्बन्ध वर्ग परिस्थितियों का आधार बनता है। वर्ग संघर्ष के परिणामतः एकाधिकार और धनी लोगों की सरकार भी सत्ता में आ सकती है। 'दास' एक प्रस्थिति समूह है।

वर्ग संघर्ष के प्रकार

एक वर्ग अपने आप में एक समुदाय नहीं होता है। फिर भी केवल सामुदायीकरण (समान आर्थिक हितों के लिए जुटाव) के आधार परही वर्ग

परिस्थितियाँ उभरती है। रमिों और उद्यमियों की वर्ग परिस्थिति श्रम बाजार और पूँजीवादी उद्यम द्वारा निर्धारित होती है। इस प्रकार, सामुदायिक क्रिया एक समान वर्ग के सदस्यों के बीच में मूलरूप से क्रिया नहीं है। पूँजीवादी उद्योग का अस्तित्व एक विशिष्ट प्रकार की विधि व्यवस्था द्वारा पूर्व–निर्धारित होता हैं प्रत्येक प्रकार की वर्ग परिस्थिति सम्पत्ति की शक्ति परनिर्भर करती है। प्रस्थिति समूह केवल बाजार सिद्धान्त के कठोर क्रियान्वयन में बाधा डालते हैं। वर्ग संघर्ष के प्रकार ये हैं– प्राचीन काल में कृषकों, कारीगरों आदि द्वारा वर्ग संघर्ष और आजकल प्रतियोगी संघर्ष, कीमत, युद्ध इत्यादि।

वेबर के अनुसार, वर्गों के विपरीत, प्रस्थिति समूह, प्रायः एक अस्पष्ट प्रकार के, साधारणतया समुदाय हैं। एक वर्ग परिस्थिति की तरह ही एक प्रस्थिति परिस्थिति भी है, जिसके द्वारा बहुत से लोगों के सम्मान का सामाजिक आकलन किया जा सकता हैं यह वर्ग परिस्थिति के निकट हो सकती है, और वर्ग परिस्थिति प्रस्थिति परिस्थिति के निकट पाई जा सकती है। प्रस्थिति सम्मान अनिवार्यतः एक वर्ग परिस्थिति से जुड़ा हुआ नहीं होता। साधारणतया, यह मात्र सम्पत्ति के दावों के स्पष्ट विरोध में रहताहे। सम्पत्तिवान और सम्पत्तिविहीन दोनों लोग एक ही प्रस्थिति समूह से जुड़े हुए हो सकते हैं और बहुधा, वे स्पष्ट परिणामों के साथ जुड़े हुए पाये जाते हैं। दीर्घकाल में इस प्रकार की समानता अनिश्चित व असुरक्षित भी हो सकती है।

वेबर ने 'जाति' का उदाहरण एक प्रस्थिति समूह के रूप में दिया है। प्रस्थिति विशिष्टतायें (विभेद) न केवल परम्पराओं और कानूनों द्वारा ही सुरक्षित रहते हैं, बल्कि धार्मिक कृत्यों/संस्कारों द्वारा भी वे बने रहते हैं। जातियाँ प्रस्थिति समूह है और जाति में आदर्श और भौतिक (आर्थिक) कारकों का सम्मिश्रण है। प्रत्येक ाति की अपनी एक जीवन शैली होती है। वेबर के अनुसार 'सामाजिक सम्मान' में एक 'जीवन–शैली की निर्णायक भूमिका का अभिप्राय यह है कि प्रस्थिति समूह 'परम्पराओं' के विशेष वाहक हैं। जीवन का 'शैलीकरण' प्रस्थिति समूहों से उत्पन्न होता है।

विशिष्ट 'जीवन शैलियों' के रूप में, 'वर्ग' अपने उपभोग के सिद्धान्तों के आधार भी स्तरीकृत होते हैं। एक 'व्यावसायिक समूह' भी, एक प्रस्थिति समूह है। उदाहरण के लिए ब्राह्मण एक प्रस्थिति समूह हैं, क्योंकि वे पूजा–पाठ का कार्य करते हैं, लेकिन प्रस्थिति द्वारा स्तरीकरण को तकनीकी परिवर्तन और आर्थिक रूपान्तरण से चुनौती मिलती है और इस कारण वर्ग परिस्थिति को बढ़ावा मिलता है।

'वर्ग परिस्थिति'/प्रस्थिति 'परिस्थिति' पार्टियों का निर्धारण कर सकती है। वे आंशिक रूप में वर्ग दल हैं और आंशिक रूप में प्रस्थिति दल है। परन्तु कभी–कभी वे दोनों ही नहीं है। पार्टियों में कर्मचारी और कार्य करने के नियम होते हैं। पार्टियाँ अस्थायी या स्थायी संरचनाओं का प्रतिनिधित्व कर सकती है। शक्ति प्राप्त करने के साधन नग्न हिंसा से लेकर, धन खर्च करके मतों के लिए प्रचार, सामाजिक प्रभाव, वजनदार भाषण, सुझाव, बेहूदा झूठ, आदि हो सकते हैं। दलों के बीच सामुदायिक क्रिया की प्रकृति के आधार पर अन्तर पाया जाता है। उसमें प्रस्थितियों या वर्गों के आधार पर समुदाय में पाये जाने वाले स्तरीकरण पर आधारित अन्तर भी पाये जाते हैं। पार्टियाँ समुदाय में व्याप्त प्रभुत्व की संरचना के अनुसार भिन्न होती है। पार्टियों का इतिहास समाज के इतिहास के संबंध में देखा जा सकता है।

एच.एच. गर्थ और सी. राइट मिल्स का मत है कि वेबर की पद्धति मार्क्स की ऐतिहासिक पद्धति का एक सकुशल उपयोग है। वेबर ने इस पद्धति का उपयोग एक 'विश्लेषणात्मक सिद्धान्त' के रूप में किया था। वैसे वेबर संसार के इतिहास के विचार या एक एकलकारणीय सिद्धान्त के पक्ष में नहीं थे। वेबर बहुतायत कारणकारी कारकों को एकल–कारक सूत्र (थ्योरेम) में घटाने (दिखाने) के विरूद्ध थे। वेबर सरलीकरण के पक्षधर भी नहीं थे। वेबर का शक्ति और राजनीतिक संरचनाओं का विश्लेषण मार्क्स के वर्ग और आर्थिक संरचनाओं के उपगम के निकट के समानान्तर प्रतीत होता है। मार्क्स ने आर्थिक शक्ति और राजनीतिक शक्ति के बीच भेद करने में कम सावधानी रखी है। वेबर ने उदारवादी होने के कारण, 'आर्थिक', 'आर्थिक रूप से निर्धारित' और 'आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण' इन तीनों क्षेत्रों के बीच स्पष्ट अन्तर किया है।

वेबर ने 'राजनीतिक शासन' के साधनों के लिए संघर्ष पर बल दिया है। राज्य के पास शक्ति का एकाधिकार है। मार्क्स की तरह वेबर ने भी विचारधारा की प्रघटनाओं का आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं के भौतिक हितों के साथ सह–संबंध स्थापित किया है। वेबर ने 'औचित्यकरणों' पर तीखी नजर रखी है, जो उनकी 'आदर्श प्रकार', क्रिया, शासनतंत्र, पूँजीवाद आदि की अवधारणाओं में दिखाई देती है। वेबर ने 'हितों' और 'विचारधाराओं' दोनों पर समान बल दिया है। वेबर के विचार में आधुनिक पूँजीवाद अतार्किक नहीं है, यह तार्किकता/औचित्यतता का मुखौटा है।

पिअरे बूरदियो ने कृषकों, कला, बेरोजगारी, स्कूल शिक्षा, विधि, विज्ञान, साहित्य, बंधुता, वर्गों, धर्म, राजनीति, खेलकूद, भाषा, आवास, प्रबुद्धजन आदि विषयों पर प्रकाशन किया है, और प्रजातियों और संस्कृतियों के हालात्, सांख्यिकीय प्रारूप (मॉडल), निराकार अर्द्धसैद्धान्तिक और दार्शनिक दृष्टिकोणों को उपयोग में लिया है। यहाँ हम बूरदियो की 'पूँजी' और 'वर्ग' की अवधारणाओं तक ही, हमारे अवलोकनको सीमित रखेंगे। बूरदियो के अनुसार, किसी भी समाज को हम उसमें विभिन्न प्रकारों के संसाधन या 'पूँजी' के वितरण द्वारा समझ सकते हैं। बूरदियो के अनुसार, तीन तरह की पूँजी इस प्रकार है– (i) आर्थिक पूँजी (भौतिक सम्पदा–रुपये, स्टॉक और शेयर, सम्पत्ति इत्यादि); (ii) सांस्कृतिक पूँजी (ज्ञान, कौशल, सांस्कृतिक उपलब्धियाँ); और (iii) प्रतीकात्मक पूँजी (संचित प्रतिष्ठा और सम्मान)। इस तरह का वर्गीकरण, वेबर की आर्थिक, सामाजिक और कानूनी/राजनीतिक व्यवस्थाओं की रचना या उनके 'वर्ग' प्रस्थिति और दलों' के विचार से मिलता–जुलता है। हम कह सकते हैं कि बूरदियो ने मार्क्स द्वारा प्रस्तावित पूँजी की अवधारणा को संशोधित और व्यापक (वृहद्) किया है।

बूरदियो ने सामाजिक स्थान और वर्गों की उत्पत्ति को जोड़ कर देखा है। उसने इंगित किया है कि मार्क्सवादी सिद्धान्त में 'सैद्धान्तिक वर्ग' को एक 'वास्तविक वर्ग' नहीं समझा जा सकता है। एक वास्तविक वर्ग एक सक्रियातापूर्ण जुटाव समूह है। बूरदियो ने सामाजिक क्षेत्र की चर्चा की है, उसके लिए केवल आर्थिक क्षेत्र को बहुआयामी स्थान स्वीकृत नहीं किया जा सकता। आर्थिक उत्पादन के सामने अन्यआयाम घटाये नहीं जा सकते। बूरदियो के अनुसार, प्रतीकात्मक संघर्ष व सामाजिक संसार का प्रतिनिधित्व, और विशेषतः प्रत्येक क्षेत्र में सोपान तथा विभिन्न क्षेत्रों में सोपान को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। एक औपचारिक अर्थ में, बूरदियो ने 'पदों के स्थान' को 'कागज परवर्ग' के समान वर्णित किया है क्योंकि उसका अस्तित्व सैद्धान्तिक है। यह वास्तव में एक वर्ग, एक वास्तविक वर्ग, एक समूह बनने के अर्थ मे नहीं है। एक समूह संघर्ष के लिये

जुटता है। अधिक से अधिक इसको एक संभावित वर्ग कह सकते हैं। यह एक नाममात्रवादी सापेक्षिकवाद है। इस दृष्टिकोण से, वर्ग वे हैं जो सामाजिक स्थान में से वास्तविक समूहों, व्यावहारिक समूहों, परिवारों, क्लबों, समितियों, राजनीतिक संगठनों आदि के रूप मं देखे जा सकते हैं। वास्तविकता में, सम्बन्धों के एक स्थान, इनमें दूरी (विभिन्न ऊपर व निम्न) पर स्थित एजेंटों के गठन द्वारा, वास्तविकता में या नाममात्र रूप में, वर्ग का निर्माण होता है। मार्क्स ने 'अपने आपमें वर्ग' और 'अपने लिये वर्ग' के बीच अन्तर के बारे में बूरदियो ने टिप्पणी की है कि मार्क्स ने 'संघर्ष में समूह' के बारे में कुछ नहीं कहा है, क्योंकि संघर्ष्जरत समूह एक व्यक्तिकृत सामूहिक संगठन अपने उद्‌देश्यों को निर्धारित कर एक ऐतिहासिक एजेन्ट है, जिसका उठाव वस्तुपरक आर्थिक अवस्थाओं से हुआ है।

एक वृहद् अर्थ में, वेबर के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए बूरदियो का मत है कि राजनीतिक प्रघटनाओं, सामाजिक–आर्थिक प्रक्रियाओं या संबंधों और वर्गों के बीच विरोध मात्र एक प्रकटन नहीं है। संसार एक एकल–आयामी स्थान नहीं है। बहुआयामी सामाजिक क्षेत्रों में व्यक्तियों के पद–स्थानों का निर्धारण उनके द्वारा धारण पूँजी के विभिन्न प्रकारों की तादादों द्वारा होता है। वेबर ने भी इसके बारे में ऐसे ही सोचा था। इनमें 'समरूपतायें' हैं, लेकिन आवश्यक रूप में सदैव नहीं होती है। क्षेत्रों, पद–स्थानों, एजेन्टों पर आधारित विचार–निर्माण आवश्यक है। इस तरह से, बूरदियो के अनुसार मार्क्सवादी विश्लेषण में सैद्धान्तिक वर्गों को वास्तविक सामाजिक समूहों के साथ भ्रमित किया है। बूरदियो ने वर्गों को उत्पादन के साधनों के स्वामित्व और अस्वामित्व केसंदर्भ में परिभाषित नहीं किया है। बूरदियो ने लिये, वर्ग, एजेन्टों के पुँज हैं, जिनके सामाजिक क्षेत्र (स्थान) में एक जैसे पद–स्थान और समान पूँजी की तादाद जीवन अवसर और प्रवृत्तियाँ आदि है। ये वर्ग, 'सैद्धान्तिक रचनायें' हैं, वास्तविक सामाजिक समूहों के जैसे नहीं है, लेकिन इनसेक, वास्तविकता में, सामाजिक समूहों और एजेन्टों के पुँजों के अवलोकन में मदद प्राप्त होती है।

31.7 शहर वर्ग और सामाजिक गतिशीलता

भारत में शहरी केन्द्र युगों से रहे हैं। अब, देश की लगभग एक चौथाई आबादी कस्बों और शहरों में रहती है। शहरी लोग अधिकतर औद्योगिक और सेवा के क्षेत्र में काम करते हैं, जबकि देहाती क्षेत्र के लोग अधिकतर कृषि और सम्बन्धित क्षेत्र में काम करते हैं। आजादी के बाद भारत सरकार ने जो औद्योगिक नीति बनायी उसका लक्ष्य तेज औद्योगीकरण के जरिये देश का आर्थिक विकास करना है। 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' की इस नीति में एक ऐसे ढांचे की व्यवस्था है जिसके तहत सामाजिक–आर्थिक विकास के काम को अंजाम देना है।

सामाजिक वर्ग : विविध परिप्रेक्ष्य

आजादी के बाद देश में औद्योगीकरण और शहरीकरा की गति में तेजी आने के साथ, यहां तीन मुख्य शहरी सामाजिक वर्गों–पूंजीवादी या बुर्जुआ, मजदूर वर्ग या सर्वहारा और मध्यम वर्ग की संख्या और प्रभाव में बढ़ोत्तरी देखने को मिली है।

पूंजीवादी वर्ग देश का सबसे शक्तिशाली वर्ग है। उनके पास औद्योगिक व्यापारिक और वित्तीय उद्यमों का स्वामित्व या नियंत्रण है। पूंजीवादियों का एकमात्र ध्येय निजी मुनाफे को अधिक से अधिक करना है, जो पूंजीवाद का बुनियादी सिद्धान्त है। वे मजदूरों को उनके द्वारा बनाये गये सामानें या उनकी

सेवाओं की तुलना में कहीं कम पैसे देकर उनका शोषण करते हैं। जमींदारों और धनी किसानों के साथ सांठ–गांठ करके, वे अपने हितों के लिए व साधनों की गरज से राज्य की मशीनरी पर कब्जा जमा लेते हैं। वे अपने मुनाफे बढ़ाने के लिए राजनीति, नौकरशाही और व्यावसायिक स्तरों के प्रभुत्वशाली लोगों के साथ घनिष्ठ सहयोग और सम्पर्क साधकर प्रौद्योगिक जानकारी और पूंजी निवेश हासिल कर लेते हैं, जिससे राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था और जीवन में उनका प्रभुत्व और मजबूत हो जाता है।

शहरी मजदूर वर्ग में संगठित और असंगठित दोनों क्षेत्रों के दिहाड़ी मजदूर आते हैं। इस वर्ग में स्वतः नियोजित मजदूर जैसे खोमचे वाले, फेरीवाले, रेहड़ी वाले और रिक्शा वाले आदि भी आते हैं। इस वर्ग के बहुत ही कम लोग संगठित क्षेत्र में काम करते हैं। जो जैसे–तैसे अपना गुजारा कर लेते हैं लेकिन शहरी सर्वहारा की एक बहुत बड़ी संख्या असंगठित क्षेत्र में काम कर रही है। शहरी मजदूर वर्ग गरीब, अशक्त और वर्णीय आधार पर अत्यधिक असंगठित है।

मध्यम वर्ग की स्थिति में आजादी के बाद बेहतरी आयी है। वे उत्पादन की प्रक्रिया से सीधे–सीधे नहीं जुड़े है। वे नौकरशाही, अध्यापन, पत्रकारिता, डाक्टरी औरकई अन्य सेवाओं में लगे हैं वे उद्योगों में क्लर्की,, निरीक्षण और अधिशासी स्थितियों में भी लगे हैं। मध्यम वर्ग के कुलीन वर्ग के लोग संख्या में बहुत कम हैं और उनकी जीवन दशा बेहतर है।

सामाजिक गतिशीलता

बढ़ते शहरीकरण, उद्योगीकरण और आधुनिकीकरण के कारण समस्तर और उर्ध्वाधर दोनों प्रकार की गतिशीलता संभव हुई है। रोजगार के नये अवसर और रास्ते खोल कर व्यवसाय के क्षेत्र में जो विविधता बनी उसने इस प्रक्रिया को सुगम कर दिया है। व्यक्तियों की सामाजिक गतिशीलता एक से दूसरी पीढ़ी के बीच अधिक है, एक ही पीढ़ी के व्यक्तियों के बीच कम। छोटे सामाजिक समूह और समुदाय भी वर्ग की सीमाओं के पार गतिशीलता पाने में समर्थ हुए है। जाति, समुदाय, गांव, पड़ोस, परिवार, धर्म और क्षेत्र के विशिष्ट बंधनों ने सामाजिक गतिशीलताकी प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। फिर भी, कुल मिलाकर सामाजिक गतिशीलता की दर बहुत कम रही है। पारंपरिक रूप से अच्छी स्थिति वाले वर्गों ने नये वर्गीय ढांचे में बेहतर स्थान प्राप्त कर लिये हैं। लेकिन पारंपरिक रूपसे प्रतिकूल परिस्थिति में रहने वाले लोग आज भी निम्न स्थितियों में जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

उद्योगपतियों (पूंजीपतियों) की पृष्ठभूमि का आकलन करने से पता चलता है कि देश के विभिन्न क्षेत्रों में कुछ विशेष जातियों और समुदायों का प्रभुत्व है। पूंजीवादी वर्ग के लोग अधिकतर ऊँची जातियों के हैं। कलकत्ता में मारवाड़ियों का प्रभुत्व है, तो पश्चिम में गुजराती बनियों का, दक्षिण में चेतियारों का, और उत्तर में अग्रवालों और अन्य बनिया समुदायों का। लेकिन कुछ उदाहरण ऐसे भी मिल जाते हैं, जिनमं कुछ कारीगर और दस्तकार समुदायों ने उद्योग में कामयाबी हासिल की और उन्होंने ऊपर की ओर (उर्ध्वगामी) गतिशीलता बनायी। सतीश सबरलवार ने पंजाब में रामगरीया कारीगरों के उद्योगपति बन जाने के तथ्य को रेखांकित किया है। आगरा में ओपी. लिंच ने पाया कि नीची जाति के जाटवों ने जूता बनाने का उद्योग अपना लिया। लेकिन कारीगर और दस्ताकर लोग अधिकतर लघु स्तर के क्षेत्र में मिलते हैं। किसी विशेष समुदाय के कुछेक व्यक्ति या परिवार ही सबसे ऊंचे वर्ग में पहुंच पाये हैं। इसके अलावा, यह देखा गया है कि कुछ भू–स्वामी

जातियां भी उद्योग के क्षेत्र में जा रही है। इस कोटि में हाबड़ा के उद्योगपति, गुजरात के पटेदार, और आंध्र और तमिलनाडु के रेड्डी और नायडू आते हैं। कुछ उंची जातियों और समुदाय, जैसे ब्राह्मण और सीरियन ईसाई भी हाल के वर्षों में उद्योग के क्षेत्र में आ रहे हैं। मजदूर वर्ग में मुख्य तौर पर शहरी और देहाती क्षेत्र में इसके अपने ही वर्ग के लोग आते हैं। हम देखते हैं कि मध्यम वर्ग के निचले स्तरों के कूछ व्यक्ति सर्वहारा वर्ग में आ गये है। मजदूर वर्ग के कुछ व्यक्ति भी मध्यम वर्ग में चले जाते हैं। लेकिन सर्वहारा और बूर्जुआ वर्गों के बीच व्यक्तियों या परिवारों या समूहों की उर्ध्वाधर गतिशीलता बहुत ही कम देखने में आती है।

अंत में, हमें इस तथ्य पर ध्यान देना होगा कि देहाती लोगों के शहरों में जाने की जो स्थिति बनी उसमें वर्गीय हैसियत या स्थान के संदर्भ में बहुत अधिक समानता पायी जाती है। (अर्थात् ग्रामीण जिस प्रस्थिति से निकलकर शहरमें आते हैं, लगभग वैसी ही प्रस्थिति वाले काम वे शहर में करते हैं)। जमींदारों औरधनी किसानों के परिवारों के अधिकतर लोग शहरी क्षेत्रों के मध्यम वर्गीय व्यवसायों में प्रवेश कर जाते हैं। उनमें से कुछ शहरी पूंजीवादी उद्यमियों में भी शामिल हो जाते हैं। लेकिन भूमिहीन खेतिहर मजदूों, मार्जिनल और छोटे किसानों की पृष्ठभूमि में आये लोग शहरी मजदूर वर्ग में शामिल होते हैं। वास्तव में देहाती और शहरी दोनों क्षेत्रों में वर्ग की सीमाओं के पार सामाजिक गतिशीलता बहुत कम अंश में है।

31.8 सारांश

इस इकाई में हमने देखा कि मानव समाज के ढांचे ने एक आदिम और सरल रूप से एक विकसित और जटिल रूप में विकास किया है। इस प्रक्रिया में समाज का विभिन्न वर्गों में स्तरीकरण हुआ है। मानव जाति के इतिहास में विभिन्न सामाजिक वर्गों का उदय, विकास और पतन हुआ है। सामाजिक वर्गों की सम्पत्ति और शक्ति जैसे सामाजिक संसाधनों तक पहुंच में अन्तर है।

वर्ग के निर्माण की अवधारणा को लेकर दो महत्वपूर्ण दृष्टिकोण है। 'गुणात्मक' दृष्टिकोण में जोर, आय, व्यवसाय और शिक्षा जैसे व्यक्तिगत या पारिवारिक गुणों के आधार पर उच्च मध्यम या निम्न हैसियतें बनाने पर दिया गया है। लेकिन ''अंतरक्रियात्मक'' दृष्टिकोण में विभिन्न सामाजिक स्तरों के बीच संबंध जैसे, उत्पादन के साधनों से संबंध पर ध्यान दिया जाता है। इसके अलावा, हमने इस तथ्य को समझा कि वर्गीय स्तरीकरण पूरी तौर पर रूढ़ और बंद या अवरूद्ध नहीं रहा। व्यक्तियों, परिवारों छोटे समुदायों में सामाजिक गतिशीलता समस्तर और ऊर्ध्वाधर दोनों स्तरों पर हुई है। लेकिन, हमारे देश में सामाजिक गतिशीलता की दर बहुत सीमित रही है।

31.9 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. आधुनिक भारत में औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप जिन नये प्रमुख सामाजिक वर्गों का उदय हुआ, वे हैं –

    (क) किसान व भूस्वामी   (ख) जमींदार व पट्टेदार

    (ग) बुर्जुआ व सर्वहारा   (घ) उपरोक्त सभी

2. खेतिहर वर्ग को मालिक, किसान व मजदूर वर्ग में बांटा–

(क) डेनियल थॉर्नर (ख) उत्सा पटनायक

(ग) कैथलीन गफ (घ) कोई नहीं

3. पूँजीवादी वर्ग से तात्पर्य है–

(क) उत्पादन के साधनों के मालिक

(ख) समाज के कमजोर वर्ग के लोग

(ग) सम्पत्ति के गैर मालिक

(घ) उपरोक्त सभी

4. वेबर जाति को मानते हैं–

(क) सामुदायिक समूह (ख) भूमिका समूह

(ग) प्रस्थिति समूह (घ) विशिष्ट हित समूह

31.10 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1. ग
2. क
3. क
4. ग

इकाई–32

सामाजिक स्तरीकरण और सामाजिक परिवर्तन

इकाई की रूपरेखा

32.1 उद्देश्य

32.2 प्रस्तावना

32.3 जाति, वर्ग स्तरीकरण की व्याख्या

32.4 परिवर्तन की प्रक्रियाएं

32.5 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

32.6 स्वतंत्रता के पश्चात् सामाजिक परिवर्तन

32.7 सारांश

32.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

32.9 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

32.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद छात्र–

1. सामाजिक स्तरीकरण एवं सामाजिक परिवर्तन की अवधारणाओं, नियमों (Principles) तथा प्रक्रियाओं (Processes) की विस्तृत जानकारी प्राप्त करेंगे।
2. अंग्रेजी शासन से पूर्व के भारत में सामाजिक स्तरीकरण एवं परिवर्तन के प्रतिमान को समझ सकेंगे।
3. स्वतंत्रता के पश्चात् सामाजिक स्तरीकरण के प्रतिमान तथा सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को समझ सकेंगे।

32.2 प्रस्तावना

सामाजिक स्तरीकरण का तात्पर्य समाज का विभिन्न सामाजिक स्तरों में विभाजन है। समाज में विभिन्न स्तरों का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्ति के विभिन्न समूह, धन, सामाजिक प्रस्थिति एवं राजनैतिक शक्ति से सम्बन्धित संरचित असमानताओं की एक व्यवस्था बनाते हैं। हम सामाजिक स्तरों के मध्य आर्थिक असमानता देखते हैं, जैसे कि भूमि, कारखानों, वित्तीय संस्थाओं व वाणिज्यिक उद्यमों पर स्वामित्व व नियंत्रण आदि के मामले में। समृद्ध आर्थिक स्थिति को उच्च सामाजिक प्रस्थिति प्राप्त होती है तथा राजनैतिक संस्थाओं पर नियंत्रण एवं प्रभाव होता है। जबकि निम्न सामाजिक स्तरों को निम्न सामाजिक प्रस्थिति व

राजनैतिक प्रभाव भी निम्न प्राप्त होता है। इस प्रकार, विभिन्न सामाजिक स्तर सामाजिक रूप से ऊँच–नीच के क्रम विन्यास में रखे जाते हैं, जिसके कारण सम्पत्ति, प्रस्थिति एवं राजनैतिक शक्ति तक उनकी पहुँच भी विभेदीकृत होती है।

समृद्ध एवं वंचित स्तरों के मध्य संघर्ष के कारण समाज में क्रान्तिकारी ऐतिहासिक प्रयोग हुए हैं, ताकि संरचित सामाजिक असमानताओं का अंत किया जा सके तथा बीसवीं शताब्दी में एक समतावादी समाज व्यवस्था स्थापित की जा सके, जैसा कि सोवियत संघ, चीन एवं क्यूबा में हुआ। सर्वप्रथम हम क्रमशः सामाजिक स्तरीकरण व सामाजिक परिवर्तन के नियमों व प्रक्रियाओं की विवेचना करेंगे। तदुपरान्त हम पारम्परिक तथा औपनिवेशिक (colonial) भारत में सामाजिक स्तरीकरण व परिवर्तन पर संक्षिप्त चर्चा करेंगे ताकि इस विषय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की चर्चा की जा सके। अंततः स्वतंत्रता के बाद से परिवर्तन के कारकों और सामाजिक स्तरीकरण व परिवर्तन के ग्रामीण व नगरीय आयामों का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

32.3 जाति, वर्ग स्तरीकरण की व्याख्या

सामाजिक स्तरीकरण एवं सामाजिक परिवर्तन की किसी भी प्रकार की समझ हेतु इसके नियमों व प्रक्रियाओं को समझना अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन में दो महत्वपूर्ण नियम अथवा प्रारूप प्रयुक्त किये गये हैं। ये सामाजिक स्तरीकरण के जाति प्रारूप व वर्ग प्रारूप है। मोटे तौर पर, जाति के आधार पर स्तरीकृत समाज को बंद, स्थिर, जन्म पर आधारित (ascriptive) कर्मकाण्डीय व ग्रामीण विशेषताओं वाला माना जाता है। जबकि वर्ग के आधार पर स्तरीकृत समाज को उच्च दर की सामाजिक गतिशीलता वाला खुला, अर्जितोन्मुख (achievement oriented), धर्मनिरपेक्ष व नगरीय माना जाता है। अतः सामाजिक स्तरीकरण के जाति व वर्ग प्रारूपों को परस्पर विपरीत माना जाता है।

जातिगत स्तरीकरण को पारम्परिक भारतीय समाज की विशेषता माना जाता है। धुरिये ने पारम्परिक जाति व्यवस्था की छः प्रमुख विशेषताएँ बताई हैं :

(i) समाज का खण्डात्मक (segmental) विभाजन,

(ii) समूहों का क्रमविन्यास (hierarchy),

(iii) खानपान व सामाजिक संसर्ग (Social Intercourse) पर निषेध,

(iv) विभिन्न सामाजिक समुदायों की नागरिक व धार्मिक निर्योग्यताएं तथा सुविधायें

(v) व्यवसायों के अप्रतिबंधित चयन का अभाव, तथा

(vi) विवाह पर निषेध।

इसके अतिरिक्त उन्होंने, अन्तर्विवाह (endogamy) को जाति व्यवस्था की प्रमुख विशेषता माना परन्तु हट्टन ने जाति व्यवस्था में कर्मकाण्डीय प्रस्थिति को प्रमुख माना। एम.एन. श्रीनिवास के अनुसार, जाति व्यवस्था में स्वायत्त समुदाय परस्पर ऊँच–नीच के क्रमविन्यास में बंधे हुए हैं। ड्यूमां जाति व्यवस्था की मूल विशेषता कर्मकांडीय श्रेणीबद्धता (hierarchy) को मानते हैं जो कि उनके अनुसार शुद्ध व अशुद्ध (purity-pollution) की धार्मिक विचारधारा (हिन्दू विचारधारा) से

उपजा है। उनके अनुसार, कर्मकांडीय क्रमविन्यास सर्वग्राही है, जिसमें सब कुछ समाया हुआ है। इसके अन्तर्गत आर्थिक व राजनैतिक सम्बन्ध शामिल हैं।

वृहत् स्तर (अखिल भारतीय स्तर) पर, जातिगत श्रेणीबद्धता वर्ण के संदर्भ में अभिव्यक्त होता है। वर्ण एक वृहत् कैटेगरी (संवर्ग) है। समाज, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र नामक चार वर्णों में विभक्त है। अछूतों की पांचवीं संवर्ग समाज की वर्ण व्यवस्था से बाहर रखी गयी है तथा इसे जातिगत वंशानुक्रम में निम्न स्तर का माना गया है। ब्राह्मणों को कर्मकांडीय श्रेणीबद्धता में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। हालांकि, व्यवहार में जाति क्षेत्रीय व्यवस्था के रूप में कार्य करती है। जाति का नाम, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में, बदल जाता है। विवाह एवं व्यावसायिक समांगता अथवा सामाजिक अंतरक्रिया के माध्यम से जातियों की अखिल भारतीय सम्पर्क व्यवस्था नहीं हैं परन्तु क्षेत्रीय या उपक्षेत्रीय स्तर पर, इनकी कुछ समान विशेषताएं हैं।

जाति की सदस्यता प्रदत्त (ascriptive) होती है। यह केवल जन्म पर आधारित होती है, अतः यह बंद होती है। किसी भी व्यक्ति को अपनी जाति में ही विवाह करने की अनुमति होती है। पारम्परिक रूप से, ब्राह्मण पुजारी थे। क्षत्रिय शासक थे। वैश्य व्यापार व कृषि करते थे तथा शूद्र इन तीनों द्विज जातियों की सेवा करते थे। यद्यपि अछूत अन्य लोगों की सेवा करते थे, उन्हें इस वर्ग क्रमविन्यास से बाहर रखा गया था। विभिन्न जातियों के लिये विभेदीकृत दण्ड व्यवस्था प्रचलित थी। अंतर्जातीय भोजन सम्बन्धी व्यवहार निषिद्ध था। विभिन्न जातियों के मध्य सामाजिक व्यवहार पर निषेध था। तथापि, पूरी व्यवस्था को एक अन्तरनिर्भर, अतिप्रयोगी, परस्पर विरोधहीन जातियों के क्रमविन्यास की व्यवस्था माना जाता था। इस व्यवस्था के सुचारू रूप से चलने के लिये, शासक, ग्राम पंचायत तथा जाति पंचायत उत्तरदायी थे।

इसके अतिरिक्त बेते ने जाति की खंडात्मक प्रकृति पर जोर दिया है। कोई भी जाति समूहों की एक विस्तृत श्रृंखला में विभाजित एवं उपविभाजित है। बेते तमिलनाडु का उदाहरण देते हैं। तमिल समाज, सर्वप्रथम, ब्राह्मण, अब्राह्मण तथा अस्पृश्य या आदि–द्रविड़ के संवर्गों में विभक्त है। इसके बाद, ब्राह्मण समर्थ, श्री वैष्णव, पंचकर्णम्, आदि में उपविभाजित है। समर्थ में भी व्रदम, वृहचरणम्, अष्टाशाथम् आदि के उपविभाजन हैं। वदम भी बड़ादेश वदम व छोटादेश वदम में उपविभक्त है। इस प्रकार, कोई भी व्यक्ति, समूहों की एक श्रृंखला से जुड़ा होता है, परन्तु प्रत्येक समूह के लिये वही एक शब्द "जाति" प्रयुक्त होता है।

वर्ग पर आधारित समाज का विभाजन सामाजिक स्तरीकरण का एक अन्य महत्वपूर्ण सिद्धान्त माना जाता है। वर्ग की अवधारणा पर विद्वान एकमत नहीं है। मार्क्स के अनुसार वर्ग ऐतिहासिक प्रघटना है। ये समाज में, श्रम विभाजन तथा निजी सम्पत्ति की संस्था के विकास के साथ–साथ विकसित हुई है। समाज में उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के आधार पर दो मूलभूत वर्ग होते हैं, मालिक व गैर मालिक। इन साधनों के मालिक गैर–मालिकों के श्रम का शोषण, उत्पीड़न करते हैं तथा उसे हड़प लेते हैं। इन वर्गों के मध्य हितों का टकराव, वर्ग संघर्ष का कारण बनता है, जो कि इतिहास की प्रमुख वाहक शक्ति होती है। लेनिन ने वर्ग की मार्क्सवादी अवधारणा को विशिष्ट शब्दों में परिभाषित किया है। उसके अनुसार वर्ग "व्यक्तियों के वृहत् समूह हैं जो कि ऐतिहासिक रूप से निर्धारित सामाजिक उत्पादन में उनके स्थान के आधार पर, उत्पादन के साधनों के साथ उनके सम्बन्धों (जो कि प्रायः नियत व कानून द्वारा निरूपित होते हैं) श्रम के सामाजिक संगठन में उनकी भूमिका के तथा इसके फलस्वरूप, उन आयामों के

आधार पर परस्पर भिन्न होते हैं, जिनके द्वारा सामाजिक सम्पदा का बंटवारा होता है तथा उनको प्राप्त करने के तरीके निर्धारित होते हैं।"

सामाजिक स्तरीकरण पर अपने निरूपण में वेबर ने समाज में शक्ति वितरण पर जोर दिया। उनके अनुसार शक्ति के तीन आधार होते हैं। आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक। उसके अनुसार ये तीनों आधार एक दूसरे से स्वतंत्र होते हैं, चाहे वे वास्तविक सामाजिक जीवन में परस्पर सम्बन्धित हों। इसके अतिरिक्त डेहेरेनडार्फ के अनुसार, सत्ता का असमान वितरण सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है।

पारसंस, डेविड तथा मूर सामाजिक स्तरीकरण को सामाजिक इकाईयों के मध्य सामाजिक प्रस्थितियों अथवा रैंक (क्रम) भिन्नताओं की क्रम विन्यासी व्यवस्था के रूप में देखते हैं। उनकी यह मान्यता है कि समाज के सुचारू रूप से प्रकार्यरत रहने के लिये अनिवार्य है कि समाज में अधिकारों व सुविधाओं के संदर्भ में विभेदीकृत सामाजिक स्थितियों तथा विभेदीकृत पुरस्कार हों। उनका यह भी विचार है कि इस प्रकार की व्यवस्था समाज की प्रमुख मूल्य व्यवस्था द्वारा समर्थित व पोषित होती है। वर्ग स्तरीकरण पर एक अन्य योगदान वारनर ने दिया है। उसके अनुसार वर्ग से तात्पर्य व्यक्तियों का दो अथवा दो से अधिक क्रम अथवा व्यवस्था (order) से है, जिनको सामाजिक रूप से उच्च अथवा निम्न माना जाता है और तदनुसार, समुदाय के सदस्य उन्हें ऊँचा या नीचा स्थान देते हैं।

वस्तुतः वारनर द्वारा दिये गये विचार से वर्ग वह प्रस्थिति समूह है, जो कि समाज के सदस्यों के व्यक्तिपरक विश्वासों और अभिमत पर आधारित है।

वर्ग एवं स्तरीकरण की उपरोक्त सभी अवधारणाओं से पताचलता है कि इस सम्बन्ध में दो उपागम (Approach) उभरे हैं, गुणधर्म वाले (Attributional) तथा अंतरक्रियात्मक (Interactional)। सामाजिक स्तरीकरण का अंतरक्रियात्मक उपागम विभिन्न वर्गों के मध्य सम्बन्धों पर बल देता है। उदाहरण के लिये, उत्पादन के साधनों के साथ (मालिक व गैर मालिक) सम्बन्ध, श्रम के सामाजिक संगठन में भूमिका (उत्पादक श्रम, अनुत्पादक श्रम, या अश्रम), सामाजिक सम्पदा में हिस्सा तथा इसे प्राप्त करने के तरीके। हालांकि, गुणधर्म वाले उपागम में प्रस्थितियों का उच्च, मध्यम या निम्न संवर्गों में क्रम विन्यासित कर दिया जाता है। यह किसी भी व्यक्ति अथवा परिवार की प्रस्थिति के आय, व्यवसाय, शिक्षा जैसी (विशेषताओं) गुणों के समूह के आधार पर किया जाता है। समाज में सामाजिक स्तरीकरण के संदर्भ में व्यक्तिपरक–स्व–मूल्यांकन अथवा अन्य व्यक्तियों के अभिमत को प्राप्त किया जाता है।

इसके अतिरिक्त, यह भी देखा गया है कि भारतीय संदर्भ में जाति व वर्ग को पृथक करना दुष्कर है। जाति में वर्ग के तत्व होते हैं तथा वर्ग में जाति के सांस्कृतिक लक्षण विद्यमान रहते हैं। अतः विश्लेषण के स्तर पर भी स्तरीकरण की ये दो व्यवस्थाएं आसानी से अलग–अलग नहीं की जा सकतीं। भारत में वर्ग, अभी ही अस्तित्व में नहीं आये हैं। ये लगभग ईसा से 600 वर्ष पूर्व से अस्तित्व में रहे हैं। भारत में वर्ग एवं जाति परस्पर व्याप्त हैं। ये दोनों सावयवी रूप से एक दूसरे से सम्बन्धित है, अतः इनमें किसी भी प्रकार का विभेद पद्धतिशास्त्रीय हैं। प्रोफेसर के.एल. शर्मा के अनुसार : भारत में वर्ग आर्थिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था मात्र नहीं है, तथा जाति कर्मकांडीय व धार्मिक कृत्यों की व्यवस्था मात्र नहीं है . . . वर्ग जाति व्यवस्था में पाये जाते हैं, अतः वर्ग व्यवस्था की अपनी एक संस्कृति है, तथा जाति व्यवस्था का अपना एक अर्थशास्त्र है।

32.4 परिवर्तन की प्रक्रियाएं

भारतीय समाज के बारे में जैसी मान्यता है वैसी बिल्कुल बंद एवं स्थिर प्रकृति का भारतीय समाज कभी नहीं रहा है। यह एक आदिम, सरल समतावादी संरचना से एक जटिल, वर्ग–जाति में विभक्त असमतावादी व्यवस्था में परिवर्तित हुआ है।

अब इसका उद्देश्य विकसित समतावादी धर्मनिरपेक्ष, प्रजातांत्रिक तथा समाजवादी समाज स्थापित करने का है। भारत में सामाजिक परिवर्तन का एक समेकित उपागम का निरूपण करते हुए योगेन्द्र सिंह के विचार में सांस्कृतिक संरचना तथा सामाजिक संरचना के दोनों ही स्तरों पर परिवर्तन वाह्यजनित (Heterogenetic) तथा अन्तजनित (Orthogenetic) कारकों के कारण हुए हैं। वस्तुतः, भारतीय समाज में सामाजिक गतिशीलता तथा क्रमिक संरचनात्मक रूपान्तरण की प्रक्रियाएं भिन्न–भिन्न गति से कार्यशील रही है।

सांस्कृतिक क्षेत्र में परिवर्तन की प्रक्रियाओं को संस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण, आधुनिकीकरण, धर्म–परिवर्तन तथा सांस्कृतिक पुनर्जागरण (Cultural Renaissance) की अवधारणाओं के रूप में निरूपित की गई है। सामाजिक गतिशीलता की पारम्परिक प्रक्रिया का विवरण देने के लिये एम.एन. श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण नाम अवधारणा का प्रयोग किया है। उनके अनुसार "संस्कृतिकरण" एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें निम्न हिन्दू जाति, जनजाति अथवा अन्य समूह अपनी कर्मकाण्ड, विचारधारा तथ जीवनशैली को प्रायः किसी उच्च जाति के द्विज जाति के अनुरूप परिवर्तित करते हैं। सामान्यतया इन परिवर्तनों के बाद इस जाति अथवा समुदाय द्वारा जातिगत श्रेणीबद्धता में उच्च स्थिति का दावा किया जाता है और यह उच्च स्थिति के स्थानीय समुदाय में पारस्परिक रूप से प्राप्त इस जाति की स्थिति से ऊँची होती है।" इसके अतिरिक्त, एम.एन. श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण की परिभाषा देते हुए बताया कि "पश्चिमीकरण की भारतीय समाज एवं संस्कृति में 150 वर्षों के अंग्रेजी शासन के परिणामस्वरूप आये परिवर्तन हैं और इस अवधारणा (पश्चिमीकरण) में प्रौद्योगिकी, संस्थायें, विचारधारा तथा मूल्यों आदि विभिन्न स्तरों पर आये परिवर्तन शामिल हैं।"

इसके अलावा हम जानते हैं कि भारत में हिन्दू, इस्लाम तथा अन्य धार्मिक परम्परायें साथ–साथ अस्तित्व में रही हैं। भारत में हिन्दू व मुस्लिम परम्परायें दोनों में सामंजस्य व सौहार्दपूर्ण ढंग से श्रेणीबद्धता, समग्रवाद (holism), निरन्तरता तथा पारलौकिकता के सिद्धांतों के आधार पर कार्यशील रही है। अतः आधुनिकीकरण का तात्पर्य एक मानसिक मानदण्डात्मक (Psychicnomative) चुनौती है, जिसका अर्थ श्रेणीबद्धता से समानता, समग्रवाद से व्यक्तिवाद, निरन्तरता से परिवर्तन, पारलौकिकता से ईहलौकिक तार्किकता तथा धर्मनिरपेक्ष में परिवर्तन से हैं भारतीय समाज में व्यक्तियों द्वारा एक धर्म से दूसरे धर्म में धर्म–परिवर्तन किये गये हैं। विशेषतः जाति व्यवस्था की कठोरता तथा अन्य बातों से बचने के लिये हिन्दू धर्म से इस्लाम व ईसाई धर्म में धर्म–परिवर्तन हुए हैं। इसके अतिरिक्त हमारे लम्बे इतिहास में सामाजिक, धार्मिक सुधार आंदोलनों की भी अनेक लहरें आई।

भारतीय समाज की सामाजिक संरचना में परिवर्तन आये हैं। यद्यपि उनकी दर धीमी रही है। लघु स्तर पर ये भूमिका–विभेदीकरण (Role-differentiation), नये विधानीकरण तथा प्रवास की प्रक्रियायें कार्यशील हैं और समाज में वृहत् स्तर पर राजनैतिक उन्नयन, अभिजन का संचरण, प्रशासन तंत्रीकरण

(bureaucratisation), नगरीकरण, तथा औद्योगीकरण इन सभी ने भारत में सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था को प्रभावित किया हैं भारतीय इतिहास में प्राचीन सामाजिक स्तर के क्षरण व विलुप्तिकरण के साथ–साथ नये सामाजिक स्तर के उद्भव और वृद्धि को देखा गया है।

32.5 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सैद्धान्तिक स्तर पर जाति व वर्ग को सामाजिक स्तरीकरण की दो विशिष्ट नियमों के रूप में विवेचित किया गया है परन्तु हम जानते हैं कि इनको भारतीय समाज में वर्तमान स्थिति में परस्पर भिन्न तथा परस्पर विरोधी नहीं माना जा सकता। न तो वर्ग सिर्फ आर्थिक होता है न ही जाति की प्रकृति मात्र कर्मकाण्डीय है।

पारम्परिक अवस्था का उल्लेख

अंग्रेजी शासन से पूर्व के समाज में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में जाति एवं वर्ग में बहुत उच्च स्तर का साम्य था। उच्च जातियों एवं वर्गों की सामाजिक, आर्थिक प्रभुता को हमारी प्रभुत्वशील धार्मिक व्यवस्था और सबल बनती थी। श्रम का सामाजिक विभाजन जाति एवं वर्ग पर आधारित था। ब्राह्मण पुजारी का कार्य करते थे और उन्हें सर्वोच्च कर्मकाण्डीय प्रस्थिति प्राप्त थी तथा इसके साथ–साथ करों से मुक्ति जैसी अनेक विशिष्ट सुविधायें प्राप्त थीं। कर्मकाण्डीय श्रेणीबद्धता में क्षत्रियों का स्थान दूसरा था। सामान्यतया वैश्य व्यापार एवं वाणिज्य करते थे। उन्हें समाज की वर्ण व्यवस्था में तीसरा स्थान प्राप्त था। शूद्र, किसान, कारीगर, दस्तकार एवं श्रमिक थे, जो उच्च जातियों की सेवा करते थे। इसके अतिरिक्त अस्पृश्यों को सामाजिक श्रेणीबद्धता में निम्नतम स्थान प्राप्त था।

मुस्लिम और ईसाई जैसे गैर हिन्दू समुदाय भी स्तरीकृत थे। यद्यपि उनमें जाति व्यवस्था शास्त्रों के अनुरूप मान्यता प्राप्त नहीं थी, परन्तु समाज में जाति व्यवस्था के प्रचलन से वे अप्रभावित नहीं रह पाये। इसके अतिरिक्त हिन्दुओं की भांति वे सुविधा प्राप्त तथा वंचित वर्गों में विभक्त थे। सम्राट एवं राजा, पुजारी, जमींदार एवं जागीरदार जैसे सामन्तवादी भूपति तथा खट, मुकद्दम चौधरी, देशमुख तथा पाटिल जैसे स्थानीय मुखिया सुविधा–प्राप्त शासक वर्ग में आते थे। वंचित एवं शासित सामान्यजन के अन्तर्गत किसान, कारीगर, दस्तकार, खेतिहर, मजदूर तथा अन्य सेवक जातियां शामिल थी। कोसाम्बी के अनुसार प्राचीन भारत में जाति व्यवस्था वर्ग संरचना का प्रतिनिधित्व करता था। ईरफान हबीब ने भी यह पाया कि मध्य युगीन, मुगल शासन में कृषि उत्पादन के लिये स्थाई श्रम शक्ति सृजित करने के लिये अपरिवर्तनीय रूप से जाति व्यवस्था ने कार्य किया। तथापि भारत में सामाजिक स्तरीकरण की पारम्परिक व्यवस्था पूर्ण रूप से बन्द एवं कठोर नहीं थी, स्तरों के मध्य स्तर के भीतर प्रस्थिति की गतिशीलता तो थी, परन्तु बहुत सीमित स्तर पर थी। सिद्धांततः जाति व्यवस्था प्रस्थिति की गतिशीलता को अनुमति नहीं देती थी, परन्तु व्यवहार में गतिशीलता घटित हुई और इसके लिये अनेक तरीके उपलब्ध थे जैसे कि सम्पदा की प्राप्ति, राजनैतिक शक्ति की प्राप्ति, सुदूर स्थानों पर जाकर साधु बन जाना आदि। निम्न जाति एवं वर्ग प्रस्थिति के कुछ परिवारों अथवा समूहों द्वारा कुछ समय के अन्तराल पर अपनी आर्थिक एवं राजनैतिक प्रस्थिति में सुधार तथा संस्कृतिकरण एवं अपने विश्वदर्शन और जीवनशैली में उच्चतर सामाजिक प्रस्थिति प्राप्त करना सम्भव हुआ। निम्न जाति के अनेक व्यक्तियों द्वारा संसार को त्यागकर समाज के सभी स्तरों से श्रद्धा प्राप्त

करना सम्भव था, परन्तु सभी स्तरों पर अर्थात् वैयक्तिक, पारिवारिक एवं समूहों के स्तरों पर सामाजिक गतिशीलता की मात्रा बहुत कम थी। इसके अतिरिक्त अस्पृश्यों के लिये उच्चतर सामाजिक गतिशीलता लगभग असम्भव थी। मनु संहिता के अनुसार ईसा से 6 शताब्दी पूर्व बौद्ध धर्म, जैन धर्म, लौकायत भौतिकवाद तथा अन्य धार्मिक सम्प्रदायों की वृद्धि ने ब्राह्मणवादी श्रेष्ठता को चुनौती दी तथ उसका विरोध किया। बुद्ध ने भगवान पर बात करने से इन्कार कर दिया। बुद्ध की सामाजिक श्रेणीबद्धता की संघ व्यवस्था में ब्राह्मण के स्थान पर क्षत्रिय को सर्वोच्च स्थान दिया गया। बौद्ध एवं जैन धर्म ने बलि एवं कर्मकांडीय ब्राह्मणवाद का कड़ा विरोध किया तथा अहिंसा पर विशेष बल दिया। इसके अतिरिक्त कबीर, नानक, तुकाराम तथा चैतन्य जैसे सन्त कवियों द्वारा चलाये गये मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन के अनुसार ईश्वर के समक्ष सभी समान हैं। सगुण और निर्गुण भक्ति मार्ग सभी जातियों, सम्प्रदायो के व्यक्तियों और स्त्री व पुरूषों के लिए खुला था।

औपनिवेशिक काल का उल्लेख

भारत में अंग्रेजी औपनिवेशिक शासन 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रारम्भ हुआ तथा 20वीं शताब्दी के मध्य में अन्त हुआ। इस काल के दौरान, औपनिवेशिक शासकों ने भारत को पूर्ण रूप से अपने अधीनस्थ कर लिया ताकि ब्रिटेन में पूंजीवाद के विकास के माध्यम से वे अपने हितों का पोषण कर सकें। उन्होंने ऐसे अनेक कदम उठाये जिसके कारण नये स्तर गठित हुए। सामाजिक गतिशीलता के नये अवसर खुले तथा भारत में सामाजिक संघर्ष के नये स्वरूप उभर कर आये। नई भूमि राजस्व नीति की शुरूआत के कारण जमीन बाजार में बिकने लगी और नगद फसलों के उत्पादनको प्रोत्साहन मिला, जिसके कारण कृषक संरचना में परिवर्तन आये। कृषक वर्ग में जमींदार (भूमिपति), साहूकार, खातेदार तथा कारीगर और खेतिहर मजदूर थे। जमींदार भूमि के गैर कृषक मालिक थे तथा कर एकत्रित करते थे।

आधुनिक मशीनों पर आधारित उद्योगों के विकास ने नगरीय क्षेत्रों में नये वर्गों को जन्म दिया, जैसे कि, बुर्जुआ अथवा पूंजीपति वर्ग एवं सर्वहारा अथवा श्रमिक वर्ग। पूंजीपति वर्ग के पास उद्योग, व्यापार एवं वाणिज्य का स्वामित्व व नियंत्रण था। सर्वहारा वर्ग का पूंजीवादी उद्यमों पर किसी प्रकार का स्वामित्व या नियंत्रण नहीं था। इसके अतिरिक्त, शासन तंत्र, व्यवसाय एवं व्यापार जैसे नये क्षेत्रों में कार्यरत मध्यम वर्ग का विस्तार हुआ। पारम्परिक उद्योगों के ह्रास एवं विनाश के कारण शहरी दस्तकार गाँवों में प्रवास करने तथा आजीविका कमाने के लिये कृषि करने अथवा कृषक मजदूरी करने के लिये बाध्य हुए। इसके अतिरिक्त, नई नौरियों के अवसर बढ़ने तथा नई शिक्षा व्यवस्था के विकास के कारण, कुछ हद तक निम्न जातियों के व्यक्तियों के लिए भी सामाजिक गतिशीलता के नये अवसर प्राप्त हुए।

कुछ निम्न जातियों ने सामाजिक गतिशीलता प्राप्त करने के लिए संस्कृतिकरण की प्रक्रिया अपनाई। अंग्रेजों द्वारा की गई जनगणना ने भी उच्च जाति वाली प्रस्थिति का दावा करने का अवसर दिया। इस दिशा में निम्न जातियों के अनेक जाति संघों द्वारा, विशेषतः बीसवीं शती के प्रारम्भ में संगठित प्रयास किये गये। निम्न जातियों ने उच्च जातियों के विशेषतः ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य जैसी स्थानीय प्रभुत्वशील जातियों के कर्मकाण्डों, विचारधाराओं, खान–पान तथा जीवनशैली का अनुकरण करके उच्च प्रस्थिति का दावा किया। परन्तु उच्च जातियों में गतिशीलता पश्चिमीकरण के माध्यम से अर्जित की गई, जिसके अन्तर्गत भारत में अंग्रेजी शासकों द्वारा उन्नयन किये गये सांस्कृतिक, वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिक

मूल्यों एवं भूमिकाओं की स्वीकृति थी। यहां, यह बात उल्लेखनीय है कि पश्चिमीकरण एक नगरीय तथा उच्च मध्यवर्गीय अथवा उच्च जातीय प्रघटना थी, जबकि संस्कृतिकरण में क्षेत्रीय स्तरीय और कभी–कभी ग्रामीण स्तरीय निम्न जातियों की गतिशीलता निहित थी। धार्मिक मिशनरियों के सक्रिय प्रयासों के कारण कुछ लोगों ने विशेषतया जनजातियों ने ईसाई धर्म अपना लिया।

इन सभी उच्चोन्मुख (Upward) व पतनोन्मुख (Downward) गतिशीलता के बावजूद जाति व वर्ग में एक सशक्त सम्बन्ध रहा। शिक्षित मध्यम वर्ग मुख्यतया ब्राह्मण, कायस्थ व क्षत्रियों जैसी जातियों में विकसित हुए जिनमें साहित्यिक परम्परायें पहले से विद्यमान थी। मेहनतकश व अर्द्ध कुशल श्रमिकों में अधिकांश शुद्र जातियों के किसान व कारीगर शामिल हुए। नगरीय क्षेत्रों में अस्पृश्य दलितों ने निम्नतम व सर्वाधिक, अकुशल नौकरियां की। खानों व बागानों के श्रमिक अधिकांशतः जनजातियों के थे। व्यापारी व साहूकार, वैश्य जाति के होते थे। इस सतर से धीरे–धीरे एक औद्योगिक व राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग उभरा जो कि अंग्रेजों के सहयोग से उद्योग, व्यापार एवं वित्त का स्वामित्व एवं नियंत्रण करने लगे। ग्रामीण सामंतवादी वर्गों अर्थात् जिनमें राजपूत, ब्राह्मण, भूमिहर, बेल्लला, नायर, नम्बुदिरी, देखमुख आदि आते थे। वे सामन्त से भूमिपति बने। भूमिधारी किसान तथा खातेदार सामान्यतया शूद्र थे, और ये सब भूतपूर्व किसान जातियों तथा कारीगर जातियों के थे। अस्पृश्य श्रमिक अभी भी सामाजिक श्रेणीबद्धता में निम्नतम स्थान पर थे।

यद्यपि, अंग्रजों के शासनकाल में गतिशीलता की कुछ सम्भावना कराई गई, परन्तु व्यवस्था अत्यधिक शोषक व उत्पीड़क थी। इसके कारण सामंतवाद–विरोधी तथा उपनिवेशवाद–विरोधी प्रकृति के अनेक संघर्षों ने जन्म लिया। सामंतवाद–विरोधी किसान आंदोलनों को किसान सभाओं द्वारा आरम्भ किया गया, जिन्हें देश की वामपंथी शक्तियों का समर्थन प्राप्त था। इन किसान आन्दोलनों का कन्द्रीय मुद्दा जमींदारी की समाप्ति था। बंगाल के तेभागा किसान आंदोलन व तेलंगाना विद्रोह में ग्रामीण निर्धनों के बहुत बड़े भाग शामिल थे। जनजाति के लोगों ने भी सामंतवादी व औपनिवेशिक शोषण के विरूद्ध बहादुरी से संघर्ष किया। प्रचलित व्यवस्था में शोषण, उतपीड़न एवं अधीनीकरण के विरूद्ध संघर्ष में अस्पृश्य जातियों का नेतृत्व डा. बी.आर. अम्बेडकर ने किया।

32.6 स्वतंत्रता के पश्चात् सामाजिक परिवर्तन

अंग्रेजों के औपनिवेशिक शासन की जकड़ से स्वतंत्रता पाने के लिए समाज के अनेक वर्गों ने स्वतंत्रता संग्राम में भाग लिया। इस संग्राम के दौरान एक नये भारत की छवि का निर्माण हुआ और वो था श्रेणीबद्ध, असमतावादी, अर्द्धसामंतवादी व औपनिवेशिक भारतीय समाज को उपनिवेशवाद–विरोधी, साम्राज्यवाद–विरोधी, आधुनिक एवं समतावादी समाज में परिवर्तन करना। स्वतंत्र भारत में सामाजिक परिवर्तन हेतु प्रयास दो स्तरों पर किये गये हैं – ऊपर से राज्य प्रायोजित नीतियाँ एवं कार्यक्रम तथा नीचे से जन प्रेरित सक्रियकरण व आंदोलन। भारत का संविधान, सरकारी प्रयासों के लिए मूलभूत निर्देश दिया करता है। संविधान का संकल्प है कि भारत को एक समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, प्रजातांत्रिक गणतंत्र बनाया जाये तथा इसके सभी नागरिकों के लिए सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक न्याय, अभिव्यक्ति एवं विचारों की स्वतंत्रता तथा प्रस्थिति व अवसरों की समानता प्रदान की जाये।

भारत के सामाजिक–आर्थिक तथा राजनैतिक आधुनिकीकरण हेतु सरकार द्वारा अनेक प्रयास प्रारम्भ किये गये हैं। सावभौमिक वयस्क मताधिकार प्रदान किया गया है। देश के सर्वांगीण नियोजित विकास के लिए पंचवर्षीय योजनाएँ प्रारम्भ की गई हैं। तीव्र औद्योगीकरण के लिए अनेक वृहत् एवं मध्यम स्तरीय उद्योग स्थापित किये गये हैं। भूमि सुधार के कदम उठाये गये हैं। जिसमें जमींदारी व्यवस्था की समाप्ति, खातेदारी सुधार, भूमि के स्वामित्व का सीमा निर्धारण, अतिरिक्त भूमि का भूमिहीनों में वितरण, खेतिहर मजदूरों के वेतन में वृद्धि तथा बंधुआ मजदूरी की समाप्ति शामिल हैं। 1960 के दशक के मध्य में, हरित क्रान्ति प्रारम्भ की गई। सामाजिक परिवर्तन हेतु स्वयंसेवी प्रयासों को भी सरकार ने समर्थन दिया है।

इसके अतिरिक्त, समाज के पिछड़े वर्गों, विशेषतया अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों की दशा सुधारने के लिए सरकार ने अनेक विशेष कदम उठाये हैं। आरक्षण की नीति अपनाई गई, जिसके अन्तर्गत अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों के लिए लोकसभा व विधानसभा, सरकारी नौकरी तथा शैक्षणिक संस्थाओं में प्रवेश के लिए आरक्षण का प्रावधान है। समाज के इस भाग की आवश्यकताओं का ग्रामीण एवं जनजातीय विकास कार्यक्रमों के द्वारा विशेष ध्यान रखा गया है।

इसके अतिरिक्त, इस अत्धधिक असमतावादी सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तन के लिए नीचे से जनता द्वारा प्रयास किये गये हैं। असंतुष्ट व क्षुब्ध किसान व श्रमिक अपने जीवन की दशाओं को बदलने के लिए सक्रियकृत हो गये हैं। भूमि सुधार प्रयासों की असफलता ने वंचित ग्रामीण जनता को 1960 के दशक में भूमि मुक्ति आंदोलन के लिए प्रेरित किया।

ग्रामीण सामाजिक स्तरीकरण एवं सामाजिक परिवर्तन

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में सामाजिक स्तरीकरण के विश्लेषण में ग्रामीण व नगरीय क्षेत्रों में सामाजिक गतिशीलता एवं सामाजिक परिवर्तन की संरचना व प्रक्रियाओं का अध्ययन करना पड़ेगा।

जातिगत स्तरीकरण में, स्वतंत्र्योत्तर काल में परिवर्तन हुए हैं। जाति व्यवस्था ने सामंजस्यकारक परिवर्तनों व व्यवस्थापन के माध्यम से इसके लचीलेपन का प्रमाण दिया है। जाति ने वैवाहिक, खान–पान सम्बन्धी तथा धार्मिक कर्मकांडों के क्षेत्र में, विशेषतया ग्रामीण क्षेत्रों में पारम्परिक मूलभूत प्रकार्यों को निभाया है। अंतर्जातीय सह–भोजन गाँवों में आम प्रघटना नहीं है। विवाह एवं मृत्यु जैसे विशेष अवसरों पर किसी भी परिवार द्वारा विभिन्न जातियों के लोगों को आमंत्रित किया जाता है। परन्तु, खाने के लिए उच्च, मध्यम एवं निम्न जातियों को अलग–अलग पंक्तियों में बिठाया जाता है। उच्च जाति के लोग निम्न जाति के घरों पर कच्चा भोजन नहीं करते। जातियों का पारम्परिक धार्मिक कर्मकाण्डीय श्रेणीबद्धता अभी भी प्रचलित है।

यद्यपि भारतीय संविधान ने अस्पृश्यता प्रथा को प्रतिबंधित कर दिया है, परन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में यह प्रथा बहुत ही कम घटी है। गाँवों में, अधिकांश लोग आज भी अपने जातिगत व्यवसाय करते हैं। यह हमें बहुत कम ही देखने को मिलेगा कि उच्च जाति का हिन्दू ऐसा व्यवसाय करे जिससे उसकी प्रस्थिति नीची हो। शिक्षा में, उच्च जातियां मध्यम जातियों से बहुत आगे हैं। शिक्षा में, निम्न जातियाँ विशेषतया अनुसूचित जातियां व अनुसूचित जनजातियां अत्यधिक पिछड़ी हुई हैं।

निम्न जातियों के कुछ व्यक्ति व परिवार आर्थिक, राजनैतिक एवं शैक्षणिक क्षेत्रों में बेहतर स्थितियां अर्जित कर अपनी सामाजिक प्रस्थिति सुधारने में सफल हुए हैं। इन लोगों में उच्च जातियों की जीवनशैली अपनाने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। परन्तु स्वतंत्रता के पश्चात् जातियों की गतिशीलता के प्रतिमान में सामान्यतया परिवर्तन आया है, जिसमें आर्थिक व राजनैतिक संसाधनों को पाने के लिए ये संस्कृतिकरण–पश्चिमीकरण से लेकर बढ़ते राजनीतिकरण व सामाजिक सक्रियकरण तक में लिप्त हैं। जाति के नेताओं ने सामूहिक प्रस्थिति गतिशीलता अर्जित करने के लिए अपनी जाति के लोगों को जातिसंघ, जातिगत गुट तथा दबाव समूह के गठन के माध्यम से राजनैतिक व सांस्कृतिक रूप से सक्रियकृत किया है। पिछड़े वर्गों का आंदोलन इस प्रघटना का स्पष्ट उदाहरण है। अंतर्जातीय प्रतिस्पर्द्धा के अतिरिक्त, क्षेत्रीय स्तर पर राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने के लिए जातियों के मध्य सहयोग व समझौते हो रहे हैं। इस सबका ग्रामीण स्तर की राजनीति पर गहरा प्रभाव पड़ा है। इन जैसे नये क्षेत्रों में जाति के प्रभावशील होने के बावजूद, आज भी यह पारम्परिक अर्थ में, गांवों में एक सक्रिय शक्ति है तथा परिवर्तन बहुत कम हुए हैं व अधिकांश सीमांत परिवर्तन ही रहे हैं।

इसके अतिरिक्त, भारतीय समाज जातिगत स्तरीकरण के साथ–साथवर्ग के आधार पर भी स्तरीकृत रहा है। ग्रामीण बंगाल में प्रमुखता जमींदार, जोतदार (रयोत तथा बड़े खातेदार), बरगदार (बटाईदार) एवं खेत मजदूर तथा व्यापारी एवं कारीगर हैं। तमिलनाडु में ग्रामीण जनसंख्या को मीरासदार या कामचीकार (भूमिपति), पायकारी (खातेदार), कामगार एवं कारीगर था आदिमाई एवं पड़ियाल (जोकि बंधुआ मजदूर एवं खेतिहर दास थे) में समूहबद्ध किया जा सकता है। बिहार में, हमें अशरफ (भूतिपति), वकार (ग्रामीण दुकानदार) पवानिया (कारीगर), जोतिया (लघु किसान) तथा निम्न जाति भूमिहीन श्रमिकों का वर्ग देखने को मिलता है। फिर भी सामान्यतया तीन वृहत् कृषक वर्गों को देखा जा सकता है – (1) भूतिपति एवं धनी किसान, (2) मध्यम स्तरीय किसान, तथा (3) निर्धन किसान एवं भूमिहीन कृषक मजदूर।

स्वतंत्र्योत्तर काल में, कृषि के क्षेत्र में, भूमि सुधारों एवं ''हरित क्रांति'' के फलस्वरूप सर्वहाराईकरण (Proletarianisation), बुर्जुआईकरण (Bourgeoisification) एवं किसान विभेदीकरण (Peasant differentiation) की प्रक्रियाएं देखने को मिली हैं। भूमिपति एवं धनी किसानों ने अपने पूर्व खातेदारों को भूमि से बेदखल कर दिया तथा जमीन पर स्वयं खेती कराने लगे हैं, जिसके कारण ये भूतपूर्व खातेदार भूमिहीन खेतिहर मजदूर बनरक रह गये हैं। कुछ भूमिपति परिवारों की प्रस्थिति भी घटी है। इसके अतिरिक्त, कुछ मध्यम जातियों के बड़े खातेदार अपनी कृषि भूमि को बढ़ाकर अपनी परिस्थिति सुधारने में सफल हुए हैं। इन लोगों ने कृषि की नई प्रौद्योगिकी अपनाई है तथा समृद्धि हासिल की है। एक प्रकर से इन लोगों का बूर्जुआईकरण हुआ है। हरित क्रान्ति के फलस्वरूप कृषक समुदाय में विभेदीकरण हुआ है।

दक्षिण भारत में तंजौर जिले के श्रीपुरम् गांव के अपने अध्ययन में आंद्रे बेते ने बताया है कि गांव की पारिवारिक व्यवस्था में वर्ग व्यवस्था तथा शक्ति का वितरण दोनों बहुत अधिक सीमा तक जाति के अन्तर्गत ही था। 1940 तक गांव में वर्ग व जाति में प्रस्थिति साम्य बहुत ऊँची दर का था। पारम्परिक श्रीपुरम् गांव में 24 प्रतिशत ब्राह्मण, 49 प्रतिशत कारीगर तथा सेवक जातियों व 27 प्रतिशत अस्पृश्य आदि–द्रविड़ों पर सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक प्रभुता रखते थे। इन ब्राह्मणों के पास अधिकांश गांव की जमीन थी, ये गांव के मामले में भारी प्रभाव

रखते थे। इन्हें अनेक कर्मकांडीय एवं नागरिक सुविधाएं प्राप्त थी तथा उच्चस्तरीय सरकारी सत्ता के साथ प्रशासन पर एकाधिकार रखते थे। परन्तु देश में स्वतंत्रता के पश्चात् राजनैतिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में अनेक परिवर्तनों के कारण इनकी राजनैकि एवं आर्थिक प्रस्थिति कमजोर हो गई है। बेते के अनुसार, कुछ भूमि ब्राह्मण मिरासदारों के हाथ से निकलकर गैर–ब्राह्मण जातियों के पास चली गई है। फिर भी, आज भी गांव में अधिकांश भूमि ब्राह्मणों के हाथ में है। इसके अतिरिक्त अब गांव में सामूहिक गतिविधियों को संगठित करने में गैर–ब्राह्मणों की महत्वपूर्ण भूमिका है। इन लोगों ने ग्राम पंचायत का नियंत्रण ब्राह्मणों से छीनकर अपने हाथ में ले लिया। राजनैतिक दल की सदस्यता, सरकारी अधिकारियों से सम्पर्क व उनसे मिले संरक्षण में रानजैतिक जीवन में जाति के अलावा महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

4 राज्यों में संकलित तथ्यों पर आधारित अपने अध्ययन के आधार पर अनिल भट्ट ने पाया कि सामाजिक स्तरीकरण के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक आयाम अब प्रदत्त जाति आयाम से अधिकाधिक विभेदीकृत हो रहे हैं। उनके अनुसार अब सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक प्रस्थिति जाति प्रस्थिति से महत्वपूर्ण तरीके से जुड़ी हुई नहीं हैं, उनके निष्कर्षों के अनुसार यद्यपि ब्राह्मणों को कर्मकांडीय श्रेणीबद्धता में उच्चतम स्थिति प्राप्त है। सामाजिक, आर्थिक श्रेणीबद्धता में उन्हें दूसरी स्थिति प्राप्त है, तथा गांव के मामले में प्रभाव के क्षेत्र में उनकी स्थिति चौथी है, फिर भी जाति के श्रेणीबद्धता में चौथे स्थानपर स्थिति मध्यम जातियों, तीसरे स्थिति की सामाजिक, आर्थिक प्रस्थिति वाली है और गांव के मामले में प्रभाव के क्षेत्र में उन्हें सर्वोच्च स्थिति प्राप्त है। हरिजनों को आज भी सभी क्षेत्र में निम्नतम स्थिति प्राप्त है।

इसके अतिरिक्त अपने बिसीपारा अध्ययन में बेली ने यह पाया कि उड़ीसा में बोड जाति जो कि निम्न जाति है, उसमें उच्चोन्मुख गतिशीलता हुई है। नशाबन्दी नीति के परिणामस्वरूप बोड जाति के लोगों ने धन कमाया। उच्च जाति के लोगों से भूमि खरीदी और इस प्रकार गांव में योद्धा जाति केस्तर के समकक्ष आ गये। इस प्रक्रिया ने प्रस्थिति की पारम्परिक समीकरण को तोड़ दिया। इसके अतिरिक्त अनेक अध्ययनों में आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में जाति के भीतर विभेदीकरण की प्रक्रिया को देखा गया है। एक विशिष्ट जाति के कुछ व्यक्ति एवं परिवार आर्थिक एवं राजनैतिक क्रमविन्यास में ऊपर चढ़े हैं तो कुछ नीचे उतरे हैं और इस प्रकार जाति के भीतर विभेदीकरण हो गया है।

नगरीय सामाजिक स्तरीकरण एवं सामाजिक परिवर्तन

भारत में नगरीय क्षेत्रों में रहने वाली जनसंख्या का अनुपात धीरे–धीरे वढ़ रहा है। अब वे कुल जनसंख्या का एक चौथाई भाग है। गांवों तथा नगरीय औद्यौगिक केन्द्रों के मध्य, ग्रामीण नगरीय प्रवास की प्रक्रिया के माध्यम से एक गहरा अन्तः सम्बन्ध है। नगरीय समाज भी जाति एवं वर्ग के आधार पर स्तरीकृत है, परन्तु ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में विशेषतः सार्वजनिक जीवन में नगरीय क्षेत्रों में जाति की पकड़ कमजोर है।

आधुनिक अर्थव्यवस्था के विकास ने निम्न जाति के लोगों में विशेषः नगरीय क्षेत्रों के अनुसूचित जाति को उच्चोन्मुख सामाजिक गतिशीलता के अवसर प्रदान किये हैं। ये लोग अब उद्योग धन्धों, व्यवसायों तथा सेवाओं में प्रविष्ट हो गये हैं और इस प्रकार काफी हद तक इन्होंने अपनी आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक प्रस्थिति सुधार ली है। इन लोगों ने आधुनिक शिक्षा भी ग्रहण की है, जो

सामाजिक गतिशीलता प्राप्त करने में इनकी सहायता करती है। ओ.एम. लिन्व ने आगरा की जाटव जाति का अध्ययन किया जो कि पारम्परिक रूपसे अशुद्ध चमड़े के कार्य में व्यवसायरत थे। जैसे–जैसे आधुनिक चमड़ा उद्योग विकसित हुआ, कुछ जाटवउद्यमी बन बये और उन्होंने अपनी जाति के लोगों को नौकरियां प्रदान की। उनकी आर्थिक प्रस्थिति काफी महत्वपूर्ण ढंग से सुधरी। इसके अतिरिक्त इन लोगों ने सामाजिक गतिशीलता अर्जित करने के लिए सर्वप्रथम संस्कृतिकरण (Sanskritisation) और बाद में राजनैतिकरण (Politicisation) अपनाया। पंजाब में पारम्परिक रूप से बढ़ई का काम करने वाले रामगढ़ियों के अध्ययन में सबरवाल ने पाया कि उनमें से कुछ उद्यमी कार्य करने लग गये हैं और धीरे–धीरे उच्च जातियों के सामाजिक व्यवस्था में प्रवेश कर गये हैं।

तथापि निम्न जातियों के भूमि समुदायों, जिनमें अनुसूचित जातियां भी शामिल है, की उच्चोन्मुख गतिशीलता काफी सीमित रही है। ये लोग प्रायः निम्न प्रस्थिति और निम्न आय वाले व्यवसाय में कार्यरत हैं जैसे कि फैक्ट्रियों में अकुशल एवं अर्द्धकुशल, श्रमिकों के रूप भवन निर्माण एवं कार्य में, जूते पालिसकरने, गन्दगी हटाने तथा असंगठित क्षेत्र में भी कार्य करने, नौकरियों में निम्न स्थानों में कार्यरत हैं। भारतीय गांव की तरह नगरीय क्षेत्रों में भी जाति के भीतर असमानता की प्रघटना देखी जाती है। एक ही जाति और समुदाय के लोग आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्रों में असमान है। समान जाति की प्रस्थिति होते हुए भी लोग धनी एवं निर्धन, शिक्षित एवं अशिक्षित अधिकारी एवं हाथ के मजदूर, साहब तथा आम आदमी की श्रेणियों में विभक्त हैं।

नगरीय क्षेत्रों में व्यक्तियों, परिवारों एवं लघु सामाजिक समूहों की सामाजिक गतिशीलता हुई है। बढ़ते व्यावसायिक व्यापारीकरण की प्रक्रिया ने इस प्रक्रिया को बढ़ावा दिया है। जाति, समुदाय, गांव पड़ोसी, धर्म तथा क्षेत्र के बंधनों ने भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। तथापित सामान्यतया सामाजिक गतिशीलता कीदर बहुत नीची रही है। पारम्परिक रूप से सुविधा प्राप्त जातियां एवं वर्गों ने नई नगरीय वर्ग संरचना में बेहतर स्थितियां हासिल कर ली है और पारम्परिक रूप से सुविधाओं से वंचित जातियां एवं वर्गों की प्रस्थिति अभी भी निम्न बनी हुई है। नगरीय भारत में यह एक प्रमुख प्रवृत्ति है।

अन्ततः, यह बात ध्यान रखने योग्य है कि ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में नगरीय क्षेत्र में व्यवसाय, आय तथा शिक्षा द्वारा व्यापारिक, सामाजिक गतिशीलता, की सम्भावनाओं को बहुत बढ़ा देती है। अतः नगरीय क्षेत्रों में जातिगत श्रेणीबद्धता तथा अन्य सामाजिक– आर्थिक श्रेणीबद्धता में असमानता देखने को मिलती है।

32.7 सारांश

सामाजिक स्तरीकरण समाज के विभिन्न सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में विभिन्न सामाजिक स्तरों के मध्य संरचनात्मक असमानताओं की व्यवस्था है। इस प्रकार के सामाजिक स्तर एक सामाजिक श्रेणीबद्धता के रूप में व्यवस्थित होता हैं तथा समाज में प्रभुताशील मूल्य व्यवस्था द्वारा समर्थित होते हैं।

भारत में सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन में सामान्यतया दो नियमों का प्रयोग किया गया है। पहला– जाति प्रारूप तथा दूसरा वर्ग प्रारूप। जिस पर हमने प्रारम्भ में आपका ध्यान केन्द्रित किया। आदर्श रूप में ये दोनों परस्पर विरोधी प्रारूप माने जाते हैं। जैसा कि हमने देखा जाति स्तरीकरण को पारस्परिक भारतीय

समाज का एक विशिष्ट लक्षण माना जाता है, जिसमें कि समाज का खण्डात्मक विभाजन होता है और श्रेणीबद्धता, अन्तर्विवाह, सहभोज के साथ–साथ सामाजिक व्यवहार पर निषेध, वंशानुगत व्यवसाय, तथा जाति सम्बद्ध सुविधायें और नियोग्यतायें होती हैं। इसके अतिरिक्त हमने यह भी अध्ययन कियाहै कि किस प्रकार वर्ग को मार्क्स, लेनिन, वेबर, डेहरन डोर्फ, पारसन्स तथा वारनर जैसे विभिन्न विद्वानें ने अलग–अलग तरीक से परिभाषित किया है। तथापित इन परिभाषाओं में वर्ग के प्रति दो उपागम में सामाजिक स्तरीकरण को विभिन्न सामाजिक स्तृतों के उत्पादन के साधन और श्रम के सामाजिक संगठन में भूमिका के साथ सम्बन्धों के संदर्भ में देखे गये हैं, जबकि गुणधर्म वाले उपागम में सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा कुछ विशेषताओं के समूह के आधार पर बनाई गई है, जिसमें सम्पदा, आय तथा शिक्षा आदि आते हैं। भारत के मामले में जाति एवं वर्ग सदियों से अन्तःसम्बन्धित पाये गये हैं।

भारतीय समाज उतना स्थित नहीं है, जितना कि माना जाता है। सामाजिक गतिशलता और क्रमिक सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया आन्तरिक एवं बाह्य कारकों के कारण कार्यशील रही है और इनके बारे में हमने क्या चर्चा की है? सांस्कृतिक क्षेत्र में गतिशीलता और परिवर्तन की प्रक्रिया संस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण, आधुनिकरण, धर्म परिवर्तन एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण के रूप में देखा गया है। सामाजिक संरचना के क्षेत्र में, ये भूमि विभेदीकरण, नव वैधानिकरण, प्रवास, राजनैतिक उन्नयन, अभिजन वर्ग का संचरण, प्रशासनतंत्रीकरण तथा औद्योगिकीकरण के रूप में देखा गया है। इन प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप भारत में सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था में परिवर्तन दिखाई दिये हैं।

तदुपरान्त हमने देखा कि ग्रामीण क्षेत्रों में अनेक स्तरों पर जाति व्यवस्था कमजोर पड़ रही है। परन्तु अन्तर्विवाह जैसे अभ्यन्तर क्षेत्र में यह अभी सशक्त है। आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्रों में उच्च जातियों की सर्वोच्च स्थिति को मध्यम जातियां चुनौतियां दे रही हैं। प्रभुताशील ग्रामीण वर्गों मं भूमिपति, धनी किसान, धनी व्यवसायी एवं व्यापारी आते हैं। य लोग निर्धन किसानों और भूमिहीन खेतिहर मजदूरों का शोषण एवं उत्पीड़न करते हैं। जिन्होंने कि कुछ समय से अनेक क्षेत्रों में विरोध और संघर्ष करना प्रारम्भ कर दिया है। नगरीय क्षेत्रों में, बुर्जुआ तथा मध्यम वर्ग के ऊपरी हिस्से इसके प्रभुत्वशील भाग हैं। सर्वहारा वर्ग तथा निम्न मध्यम वर्ग आर्थिक एवं राजनैतिक रूप से वंचित होता है। श्रमिों के आंदोलन की प्रकृति इतनी क्रान्तिकारी नहीं रहीं है, क्योंकि यह राजनैतिक उद्देश्यों की बजाय आर्थिक उद्देश्यों से अधिक सम्बन्धित रहा है।

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में सर्वहाराकरण, बुर्जुआईकरण, कृषक विभेदीकरण, राजनीतिकरण आदि शामिल है। बढ़ती व्यावसायिक व्यापकीकरण और राजनीतिकरण ने सामाजिक गतिशीलात के अवसर प्रदानकिये हैं। अंततः इस इकाई में हम देखते हैं कि किस प्रकार सामाजिक परितर्वन एवं गतिशीलता की प्रक्रिया ने प्रस्थिति की पारम्परिक समीकरण में किस प्रकार परिवर्तन किया है। हाल ही में सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक प्रस्थिति में विभेदीकरण बढ़ता हुआ नजर आया है। जाति के भीतर भी विभेदीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहन मिला है। इसके बाद भी जाति एवं वर्ग के अन्तः सम्बन्ध आज भी बहुत सशक्त हैं।

32.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. वर्ग की मार्क्सवादी अवधारणा आधारित है–

    (क) सत्ता के वितरण　　(ख) राजनैतिक सत्ता

    (ग) उत्पादन के साधनों से संबंधों पर　　(घ) उपरोक्त सभी

2. जाति की सदस्यता होती है–

    (क) अर्जित　　(ख) प्रदत्त

    (ग) दोनों　　(घ) उपरोक्त में कोई नहीं

3. दक्षिण भारत में तंजौर के श्रीपुरम गांव का अध्ययन किया है–

    (क) आंद्रे बेते　　(ख) योगेन्द्र सिंह

    (ग) ए.आर. देसाई　　(घ) उपरोक्त में कोई नहीं

4. प्रो0 योगेन्द्र सिंह के अनुसार सांस्कृतिक तथा सामाजिक संरचना में परिवर्तन के करक हैं–

    (क) केवल वाह्यजनित　　(ख) केवल अंतर्जनित

    (ग) वाह्य एवं अंतर्जनित　　(घ) तकनीकी

32.9 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1. ग
2. ख
3. क
4. ग

Note

Note